अनित्य भावना

अर्थात्

श्रीपद्मनन्दिसूरिकृत अनित्य पञ्चाशत्का
समूल भाषापद्यानुवाद ।

अनुवादक,

श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार

देवबन्द, जि० सहारणपुर ।

प्रकाशक,

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

श्रीवीर नि० स० २४४०

प्रथमावृत्ति]   मई सन १९१४ ई०   [मूल्य डेढ़ आना ।

Printed by G. N. Kulkarni at the Karnatak
Press, No. 7, Girgaon Back Road,
Bombay,
and
Published by Shri Nathuram Premi, Proprietor
Shri Jain Granth Ratnakar Karyalaya,
Hirabag, C. P. Tank, Bombay

समर्पण।

विद्याके प्रेमी, सत्पथानुगामी, गुणग्राही, शान्त-
स्वभावी, परोपकारी, ब्रह्मचारी, अष्टम प्रति-
माके अभ्यासी, जैनधर्मके प्रचारमे सविशेष-
रूपसे उद्यमी, मान्यवर श्रीमान् त्यागी
बाबा भगीरथजी वर्णीके करकमलोमे—
अनेक सद्गुणोमे अनुरक्त अनुवादक
के द्वारा—श्रीपद्मनन्द्याचार्यकी
'अनित्यपचाशत्' नामक
पुस्तकका यह हिन्दी
पद्यानुवाद सादर
समर्पित हुआ।

प्रस्तावना।

श्रीपद्मनन्दि आचार्यने 'अनित्यपञ्चाशत्' को रचकर संसारी जनोंका बडा ही उपकार किया है। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसंतप्त हृदय क्यों न हो इसको एकबार पढ लेनेसे परमशान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता और खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आ जाती है। संसारदेहभोगोंका यथार्थ स्वरूप मालूम करके हृदयमें विवेकबुद्धि जागृत हो उठती है। संसारी जनोंको उनकी भूल मालूम पड जाती है और उनमें धैर्य और साहसकी मात्रा बढ जाती है। जो लोग शोक संतापमें आत्मसमर्पणकर अपने धर्मार्थादिक पुरुषार्थोंको खो बैठते हैं—अकर्मण्य बन जाते हैं—महीनों वर्षोंतक रोते पीटते हैं और इसप्रकार अपने शारीरिक और मानसिक बलको क्षति (हानि) पहुँचाकर अपना जीवन, एक प्रकारसे, दु खमय बना लेते हैं, उनके लिये ऐसे ग्रंथोंका सत्संग बडा ही उपयोगी है—उनकी आत्माओंको उन्नत करने और उनका दुख दूर करनेमें बडा ही सहायक है। ऐसे ग्रन्थरत्नोंका सर्वसाधारणमें प्रचार होनेकी बहुत बडी आवश्यकता है। यह ग्रन्थ जैन अजैन सबके लिये समानरूपसे हितकारी है।

इस ग्रन्थकी भाषा संस्कृत होनेके कारण हमारा हिन्दी समाज अभीतक इसके लाभोंसे प्राय वंचित हो रहा है। यह देख, मेरे अन्त करणमें इस परमोपकारी ग्रंथका हिन्दी पद्यानुवाद करनेका विचार उत्पन्न हुआ। उसीके फलस्वरूप यह पद्यानुवाद पाठकोंके सन्मुख उपस्थित है। इस अनुवादमें मैंने, इस बातका ध्यान रखते हुए कि मूलकी कोई बात छूट न जावे, उस भावको लानेकी यथाशक्ति चेष्टा की है जो आचार्य महोदयने मूलमें रक्खा है और साथ ही यह भी खयाल रक्खा है कि अनुवादकी भाषा कठिन न होने पावे। मुझे, इसमें, कहाँतक सफलता प्राप्त हुई है, इसका विचार मैं अपने विचारशील पाठकोंपर ही छोडता हूँ। आशा है कि हिन्दीभाषाभाषी दूसरा श्रेष्ठ अनुवाद न होनेतक इसअनुवादको आदरकी दृष्टिसे देखेंगे और इससे कुछ लाभ अवश्य उठावेंगे।

अन्तमें मैं श्रीमान् सेठ हीराचंदजी नेमिचन्दजी आनरेरी मजिष्ट्रेट सोलापुरका हृदयसे आभार मानता हूँ जिनकी कि प्रथम प्रकाशित की हुई इस 'अनित्य' पञ्चाशत्, और उसकी संस्कृत टीकाको देखकर मुझे इस अनुवादके करनेकी प्रेरणा हुई।

देवबन्द
जि० सहारणपुर।

जुगलकिशोर मुख्तार।

श्रीवीतरागाय नमः ।

अनित्यभावना ।

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्यकृत

अनित्यपंचाशत्

हिन्दी पद्यानुवादसहित ।

दोहा ।

गहि धनु धीरज हस्त निज, ले वैराग सुतीर ।
खैंच मोहरिपु जिन हतो, जयो योगिवर वीर ॥ १ ॥

आर्या[1] छंद ।

जिनके वचन करुण[2] भी, शरगण हों मोह शत्रु नाशनको ।
धैर्य धनुषधर योगी,—सुभटनपति, जयहु सुजिनदेव ॥ १ ॥

अनित्यपंचाशत् ।

जयति जिनोधृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधाना । यद्वाकरुणामप्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥ १ ॥ यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा

---

१ इस छदके चारों चरणोंमें क्रमश १२, १८, १२, १५ मात्रा होती है ।
२ दयामय ।

नरेन्द्रछंद (जोगीरासा)।

मिलै न एक दिवस भोजन या, नींद न निशको आवै।
अग्निसमीपी अम्बुजदलसम, यह शरीर मुरझावै॥
शस्त्र व्याधि जल आदिकसे भी, क्षणभरमें क्षय हो है।
चेतन! क्या थिरबुद्धि देहमें? विनशत अचरज को है?॥२॥

चर्म मँढ़ी दुर्गंध अशुचिमय,—धातुन भींत घिरी है।
क्षुधा आदि दुख मूसन छिद्रित, मलमूत्रादि भरी है॥
जरत स्वयं ही जरा वह्निसों, काय कुटी सब जानैं।
मूढ मनुष है इतनेपर भी, जो थिर शुचितर मानै॥३॥

जलबुद्‌बुद सम है तनु, लक्ष्मी, इन्द्रजालवत मानो।
तीव्र पवनहत मेघ पटल जिम, धन कान्ता सुत जानो॥

निद्रा न रात्रौ भवेत्, विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोभ्याशस्थितायद्ध्रुवम्॥ अस्त्रव्याधिजलादितोऽपिसहसा यच्च क्षय गच्छति, भ्रात.कात्र शरीरके स्थितिमतिर्नोशेऽस्य को विस्मयः॥ २॥ दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलित सछादित चर्मणा, विण्मूत्रादिभृत क्षुधादिविलसद्दु.खाखुभिश्छिद्रित। क्लिष्ट कायकुटीरक स्वयमपि प्राप्त जरावह्निना, चेदेतत्तदपि स्थिर शुचितर मूढो जनो मन्यते॥ ३॥ अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरिय श्री-

---

१ नरेन्द्र छद मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकारका होता है। मात्रिकमें २८ (१६+१२) मात्रा होती है और अन्तमें दो गुरु वा किसी किसीके मतसे एक वा तीन गुरु होते हैं। और वर्णिक रूप इस छदका २१ अक्षरका होता है। परन्तु मात्रा उसमें भी २८ ही होती हैं और गण उसमें भगण, रगण, नगण, नगण, जगण, जगण और यगण—इस क्रमसे होते हैं। इस पुस्तकमें इस छन्दका सर्वत्र मात्रिकरूप दिया गया है। २ कमलपत्र। ३ पानीका बुलबुला।

मत्त त्रियाके ज्यौं कटाक्ष त्यौं, चपल विषयसुख सारे ।
तातै इनकी प्राप्ति नास्तिमें, हर्ष शोक क्या प्यारे ॥४॥
देह जननि है दुःख मरणकी, भयो योग यदि यासे ।
तो फिर शोक न बुधजन कीजे, मरते वा दुख आते ॥
आत्मस्वरूप विचारो तातै, नित तज आकुलताई ।
संभव होय न कबहुँ जासनैं, देहजन्म दुखदाई ॥ ५ ॥
दुर्निवार निजकर्महेतुवश, इष्ट–स्वजन मर जावै ।
जो तिसपर बहु शोक करे नर, सो उन्मत्त कहावै ॥
जातै शोक किये क्या सिद्धी, पर इतना फल हो है ।
नाश होहिं तिस मूढ मनुजके, धर्मार्थादिक जो है ॥६॥
सूर्यबिम्ब ज्यौं उदय होय फिर, काल पाय छिप जावै ।
सर्व देहधारिनको तनु त्यौं, उपजै अरु नश जावै ॥

रिन्द्रजालोपमा, दुर्वाताहतवारिवाहसदृशा. कान्तार्थपुत्रादयः । सौख्य वैषयिक सदैव तरल मत्ताङ्गनापाङ्गवत्, तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं कि मुदा ॥ ४ ॥ दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो बुधैः, सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदय सभूतिदात्री तयो । तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिश ससारदुःखप्रदो, येनाऽस्य प्रभव पुरः पुनरपि प्रायो न सभाव्यते ॥ ५ ॥ दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रनष्टे नरे, यच्छोक कुरुते तदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम् । यस्मात्तत्र कृतेन सिद्ध्यति किमप्येतत्पर जायते, नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थ-कामादयः ॥६॥ उदेति पाताय रविर्यथा तथा, शरीरमेतन्ननु सर्वदेहि-

१ उन्मत्त स्त्री। २ इसके स्थानमें "शोक किये कछु सिद्धी नाही" ऐसा पाठ भी पढ़ सकते हैं। ३ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ।

तातैं अपना काल पाय जो, इष्ट-स्वजन मर जावै ।
तापर शोक करै को भविजन, जो सुबुद्ध कहलावै* ॥७॥
वृक्षनपर लग कर झड़ पड़ते, पत्र फूल फल जैसे ।
जन्म कुलोंमें लेकर प्राणी, मरण लहैं है तैसे ॥
या विध नियम अखंडित लखिके, हर्ष शोक किम कीजे ।
बुधजन वस्तुस्वरूप विचारत, समता भाव धरीजे+ ॥८॥
दुर्निवार भावीवश मानुष, प्रियजन-मरण करेको ।
अन्धकारमें नृत्य करै वह, तिसपर शोक करै जो ॥
सन्मतिसे सब वस्तु जगतमें, नाशवन्त लखि भाई ।
सर्व दुखसंततिनाशक सेवहु, धर्म सदा मन लाई ॥ ९ ॥

नाम् । स्वकालमासाद्य निजे हि संस्थिते,करोति क शोकमत. प्रबुद्धधी ॥७॥ भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नून, पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत् । कुलेषु तद्वत् पुरुषा किमत्र, हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥८॥ दुर्लंघ्याद्भवितव्यता व्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे, यच्छोक क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्त्तनम् । सर्व नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्वा महत्या धिया, निर्धूताखिलदु·खसततिरहो धर्म सदा सेव्यताम् ॥९॥ पूर्वोपार्जित

---

* यह मूलका भावानुवाद है। शब्दानुवाद यह हो सकता है—दो० "पतन हेत रवि ज्यौ उगै, त्यौ नरदेह बखान । काल पाय हितु—नशत, को, कर है शोक सुजान ।"

+ यह मूलका भावानुवाद है । शब्दानुवाद यह हो सकता है—

दो०—हो तरुपर निश्चय गिरै, पत्र फूलफल जेम ।
कुलमें नर त्यौं, सुबुधकै, हर्ष शोक फिर केम ?"

१ श्रेष्ठबुद्धि—विवेकबुद्धि । २ समस्त दु खोंकी परम्परा—परिपाटीको नाश करनेवाला ।

पूर्व कर्मने जिस प्राणीका, अन्त लिखा जब भाई।
तिसका तब ही अन्त होय है, यह निश्चय उर लाई ॥
छोड़ शोक मरनेपर प्रियके, सादर[1] धर्म करीजे।
गया निकल जब साँप तासुकी, लीक[2] पीट क्या कीजे ?॥ १०
दुख नाशनको मूढ जगतमें, रुदनकर्म[3] विस्तारैं।
ताहि कर्मवश दूर न दुख हो, नहिं ते सुख निर्धारैं॥
तिन मूढ़नको मूढ़शिरोमणि, हम निश्चय कर मानैं।
पाप और दुख हेत, इष्टके, मरत शोक जे ठानैं॥ ११ ॥
नहिं जानै क्या नाहिं सुनै तू, नहिं क्या सन्मुख देखै ?।
'कदलीवत[4] निःसार जगत सब, इन्द्रजाल हो जैसे' ॥
इष्ट मरण पर शोक करै क्या, मनुषाकार पशू[5] रे !
जातैं नित्य परम पद पावै, सो किंचित कर तू रे॥ १२ ॥

'कर्मणा विलिखित यस्यावसान यदा, तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा त्वदेतद्ध्रुवम्। शोक मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखद धर्मं कुरुष्वादरात्, सर्पे दूरमपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते ॥ १० ॥ ये मूर्खा भुवि तेऽपि दु खहतये व्यापारमातन्वते, सामाभूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशा। मूर्खान्मूर्खशिरोमणीन्ननु वय तानेवमन्यामहे, ये कुर्वन्ति शुच मृते सति निजे पापाय दु खाय च॥ ११ ॥ कि जानासि न किं श्रृणोषि ननु किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे, नि शेष जगदिन्द्रजालसदृश रम्भेव सारोज्झितम्। कि शोक कुरुषेऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे, तत्किंचित्कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पद गच्छसि॥१२॥ जातो जनो म्रियत

---

१ आदरसहित–प्रीतिपूर्वक। २ सापके चलनेसे जो पृथ्वीपर निशान बन जाता है, लकीर। ३ सापा वा स्यापा। ४ केलेके थभ समान। ५ इन्सानकी शकलके हैवान।

जो जन्मा सो निश्चय मर है, मृत्युदिवस जब आवै ।
तीन भुवनमें भी तब ताका, रक्षक कोई न थावै ॥
तातै जो प्रियजनके मरते, शोक करै अधिकाही
कर पुकार वे रुदन करैं है, मूढ विजन बन माही ॥१३॥
या जगमाहि अनिष्ट योग अरु,–इष्टवियोग सुजानो ॥
पूर्व पापके फल ये दोनो, इम चेतन ! उर आनो ॥
शोक करै किस हेतु ? नाश कर, पाप, वृथा मत रोवै।
इष्टवियोग अनिष्टयोगका, जन्म न जातैं होवै* ॥१४ ॥
प्यारि वस्तुके नष्ट हुए भी, शोकारँभ तब कीजे ।
जो हो उसका लाभ, सुयश, सुख; अथवा धर्म लहीजे ॥
चारोंमे से एक भी न जो, बहु प्रयत्नकर होई ।
वृथा शोक-राक्षसवश तब फिर, कौन सुधी जन होई ? ॥१५॥

एव दिने च मृत्यो , प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति । तद्यो मृते सति निजेऽपि शुच करोति, पूत्कृत्य रोदति वने विजने स मूढ ॥१३॥ इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोग', पापेन तद्भवति जीव पुरा कृतेन । शोक करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाश, पापस्य तौ न भवत' पुरतोऽपि येन ॥१४॥ नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा शोक समारभ्यते, तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोथवा स्याद्यदि । यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारै प्रयत्नैरपि, प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति क शोकोग्ररक्षोवशः ॥१५॥ एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ता , प्रात प्रयान्ति सहसा

---

* मूलका सक्षिप्तानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

दो० "योगअनिष्ट जु इष्टक्षय, पूर्व पापफल दोय ।
शोक करै क्या, पाप नश, जातै दोउ न होय ॥"

एक वृक्षपर रात्रिसमय ज्यौं, पक्षी आय बसैं है।
प्रांत होय तब शीघ्रहि उठ सब, दशदिश गमन करैं है॥
त्यौं हि जीव इक कुलमें थितिकर, मरकर अन्य कुलनमें।
जाय बसै, किस हेत सुबुधजन, शोक करै तब मनमें?॥१६॥
तम अज्ञान छयो जगवन जहँ, दुःख-व्याल विचराहीं।
दुर्गतिगेह सहाइ कुपथकर, तहँ सब जीव भ्रमाहीं॥
तामधि निर्मल ज्ञान प्रकाशक, गुरुवच दीप जगैं है।
ताको पाय विलोक सुपथको, सुखपद सुबुध लहैं है॥१७॥
जो निजकर्मरचित है भविजन, मरणघड़ी जग माही।
जीव ताहिमें मरत नियमकर, पूर्व पिछाड़ी नाहीं॥
तौ भी मूरख ठान शोक अति, बहुदुखभागी होई।
काल पाय इम मरण करै यदि, अपना प्रिय जन कोई॥१८॥
तरुसे तरुपर पक्षि भ्रमर ज्यौं, पुष्पन पर उड़ जाहीं।
त्यौं हि जीव भव छोड़ अन्य भव, धारै या जगमाहीं॥

सकलासु दिक्षु। स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा, लोका श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते क ॥१६॥ दु.खव्यालसमाकुल भववन जाड्यान्धकाराश्रित, तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपाति कुपथैर्भ्राम्यन्ति सर्वेङ्गिन। तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलज्ञानप्रभाभासुर, प्राप्यालोक्य च सत्पथ सुखपद याति प्रबुद्धो ध्रुवम् ॥१७॥ यैव स्वकर्मकृतकालकलाऽत्र जन्तुस्तत्रैव याति मरण न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय, शोक पर प्रचुरदु खभुजो भवन्ति ॥ १८ ॥ वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा

१ जब सबेरा होता है। २ हाथी। ३ दुर्गतिमें ले जानेवाले खोटे मार्गोंमें होकर। ४ गुरुओंका वचनरूपी दीपक जल रहा है अर्थात् परमागम विद्यमान है। ५ मोक्षपद।

तातैं जन्मत मरत स्वजनके, हर्ष न शोक करीजे।
या विध जीवनकी अस्थिरता, जान सुबुधजन लीजे ॥१९॥
भ्रमते काल अनंत जगतमें, जीव न नरपद पावै।
दुष्कुलमें यदि पावै भी तो, अंघसे पुन नश जावै॥
सत्कुलमें आ गर्भहिं विनशै, लेते जनम मरै वा।
बचपनमें नश है तब वृषै पा, क्यौ तैहँ यत्न करै ना ॥२०॥
थिर सतरूप सदा जग भी पुन, उपजै विनशै ऐसे।
पैर्यायान्तर कर ▇ क्षणक्षणमें, जलैदपटल हो जैसे॥
तातैं जगमें जन्मत मरते, इष्ट जनोंके प्यारो।
हर्ष किये क्या? अहो शोककर,—क्या है साँध्य? विचारो॥२१॥
सागर पर्वत देश नदिनको, मनुज लाँघकर जावै।
मरण घड़ीको पलक मात्र भी, देव न लँघने पावै॥

मधुलिह पुष्पाच्च पुष्प यथा, जीवायान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्त तथा ससृतौ। तज्जातेऽथ मृतेऽथवा नहि मुद शोक न कस्मिन्नपि, प्राय. प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥ १९ ॥ भ्राम्यत् कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा, मानुष्य यदि दुष्कुले तदघत प्राप्त पुनर्नश्यति। सज्जातावथ तत्र याति विलय गर्भेऽपि जन्मन्यपि, द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वर. ॥२०॥ स्थिर सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरै, प्रतिक्षणमिद जगज्जलदकूटवन्नश्यति। तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने, प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मन· ॥ २१ ॥ लघ्यते जलराशय· शिख-

---

१ उत्तम बुद्धिका धारक। २ पाप। ३ धर्मको पाकर। ४ तिस धर्ममें। ५ एक अवस्थासे दूसरी अवस्था धारण कर। ६ मेघपटल। ७ इष्ट प्रयोजन जो सिद्ध किया जाय।

तातैं मरण भये प्रिय जनके, सुखकर पुण्यविदारी।
सदा घोर दुखदाइ शोकको, कौन करै मतिधारी ? ॥२२॥
स्वजन मरेपर जगमें मानव,—गण जो अति बिललावैं।
जन्मत मोद करैं तिहिं गणधर, बातुलता बतलावैं॥
जातैं जड़ता—दुश्चेष्टार्जित,— कर्मउदयवश जानो।
जन्ममरणपरिपाटीमय यह, सब जग नित्य बखानो ॥२३॥
बड़ी भ्रांति यह जग जीवनकी, अथवा जड़ता मानै।
बहुदुखजालजटिल जगमें बसि, आपदि शोक जु ठानैं॥
भूत प्रेत चिंति फेरु अमंगल,—पूरण मरघट माहीं।
करिकै घर, भयदाइ वस्तुसे, को शंकै मन माहीं ? ॥२४॥
गगनमाहिं ज्यौं चंद्र भ्रमै है, त्यौं जगमें नित प्राणी।
गति उदँयास्त लहै वा त्यौं ही, हानी वृद्धि बखानी॥

रिणो देशास्तटिन्या जनै, सा वेला तु मृतेर्नृपक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि। तत्कस्मिन्नपि सस्थिते सुखकर श्रेयो विहाय ध्रुव, क सर्वत्र दुरन्त दु·ख-जनक शोक विदध्यात्सुधी ॥ २२ ॥ आक्रन्द कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे, जाते यच्च मुद तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्। यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदयान्मृत्यूत्पत्तिपरपरामयमिद सर्व जगत्सर्वदा ॥ २३ ॥ गुर्वी भ्रान्तिरिय जडत्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन्, ससारे बहुदु·खजालजटिले शोकी भवत्यापदि। भूतप्रेत-पिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृह, कः कृत्वा भयदादमगलकृते भावाद्भवेच्छकितः ॥ २४ ॥ भ्रमति नभसि चन्द्रः ससृतौ शश्वदङ्गी,

१ पुण्य कर्म धर्म कर्मको छोडकर। २ पागलपन, उन्मत्तता। ३ अज्ञानभाव और खोटे आचरणोंके द्वारा बँधे हुए कर्मोंके आधीन। ४ आपदा और दु खके समयमें—मुसीबतके वक्तमें। ५ चिता। ६ शृगाल वा राक्षस। ७ उदय और अस्तगतिको प्राप्त होता है अर्थात् निकलता है और छिप जाता है। ८ घटना—बढना।

अथवा राशीसे राशीको, गमन करै शशि जैसे ।
तनु तज तनु धारै कलुपित जिय, हर्ष शोक फिर कैसे ? ॥२५
बिजुरी सम क्षणभंगुर यह सब, सुतदारादिक जानो।
नाश भये तिन खेद करै किम ? जो नर चतुर सयानो॥
उपजन विनशन थितिधारन यह, शील सभी द्रव्योंका ।
अग्निशील जिम उष्णपनो है, नहिं यामै कहुं धोका ॥ २६ ॥
मृत्यु शोकसे इष्ट जननके, उपजै कर्म असाता ।
ताकी पुन बहु शाखा फैलैं, जीव माहि दुखदाता ॥
छोटासा वट-बीज खेतमें, बोया ज्यौं भवि प्राणी !
बहु बिस्तार धरै त्यौं यह लखि, शोक तजो अघखानी ॥ २७
क्षण क्षणमें जो आयू छीजै, ताको यमभुख जानो ।
तामें प्राप्त भये सब ही जन, मृतक शोक किम ठानो ? ॥
जो यमगोचर नाहिं जगतमें, हुआ न कबहूँ होई ।
वह ही शोभै मृतक शोक कर, नाहिं अन्य जन कोई ॥२८-२९

लभत उदयमस्त पूर्णता हीनता च । कलुपितहृदय सन् याति राशि च राशेस्तनुमिह तनुतस्तत्कोऽत्र मुक्तश्च शोक ॥ २५ ॥ तडिदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं, किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भि । स्थितिजननविनाश नोष्णतेवानलस्य, व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनम् ॥ २६ ॥ प्रियजनमृतिशोक सेव्यमानेति मात्र, जनयति तदसात कर्म यच्चाग्रतोऽपि। प्रसरति शतशाख देहिनि क्षेत्र उप्त, वट इव तनुबीज त्यज्यता सप्रयत्नात् ॥ २७ ॥ आयु· क्षति प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः । सर्वे जना· किमेक. शोचयत्यन्य मृत मूढः ॥ २८ ॥ यो नात्र गोचर मृत्योर्गतो

---

१ चद्रमा। २ मलिन हृदय हुआ। ३ उत्पाद व्यय ध्रौव्य। ४ स्वभाव। ५ वह कर्म जिसके उदयसे दु ख होता है-दु·खकी सामग्री मिलती है।

पहलै ऊँचा चढ़कर दिनेकर, अपनो तेज प्रकाशै।
उस ही दिन पुन नीचै उतरै, पतन आपनो भासै॥
यह निश्चय सत जान कौन है, मानुष वे जगमाहीं।
पर्यायनके पलटत जिनके, उरमें शोक बसाहीं?॥३०॥

शशि सूरज अरु पवन खगादिक, नैभमें ही विचरै है।
गाड़ी घोड़ा आदिक थलचर, भूँपर गमन करैं हैं॥
मीनादिक जलमाहिं चलैं, यम;—सर्व ठौर विचरै है।
मुक्ति विना किस थान जीवकै, वचैवो यतन सरै है॥ ३१॥

कर्मउदयके सन्मुख क्या है, देव देवता भाई?।
वैद्य मंत्र औषधि क्या कर है, मणिविद्या चतुराई?॥
तैसे ही है मित्र वाऽन्य भू-पादि लोक त्रय माहीं।
ये सब मिलकर भी कैर्मोदय,—टारन समरथ नाहीं॥३२॥

याति नयास्यति। स हि शोक मृते कुर्वन् शोभते नेतर पुमान्॥२९॥ प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मी,—मनुभवति च पात सोऽपि देवो दिनेशः। यदि किल दिनमध्ये तत्र केषा नराणा, वसति हृदि विषाद सत्स्ववस्थान्तरेषु॥ ३०॥ आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्या, भूपृष्ठ एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति। मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति, सर्वत्र कुत्र भविना भवति प्रयत्न॥ ३१॥ किं देव किमु देवता किमगदो विद्यास्ति कि किं मणि॰, किं मत्र किमुताश्रय॰ किमु सुहृत्कि वा सगधोऽस्ति स॰। अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतय सन्त्यत्र लोकत्रये यै सर्वैरपि देहिन स्वसमये कर्मोदित वार्यते॥ ३२॥ गीर्वाणा

---

१ सूर्य। २ आकाश। ३ बचनेकी तदबीर चल सकती है। ४ कर्मके उदयको टालनेके लिये।

अणिमादिक ऋद्धि धारक किम, देव समर्थ बखानो ।
ध्वंस्त भये जब वे रावण कर, तिहि बल भी क्या मानो ॥
राम मनुजने जाको मारा, उलँघ अम्बुराशीको ।
हुवो राम भी सो यमगोचर, विधिसे अन्य बली को ? ॥३३॥
व्याप रहा है शोक दवानल, इस भव बनके माहीं ।
मूढ लोक–मृग नारि–मृगीमें, लीन तहाँ निवसाहीं ॥
कालव्याध निर्दई सदा इन, सन्मुख पाय–सभोंको ।
नाश करै, शिशु तरुण वृद्ध भी; तासे नाहिं बचै को ॥३४॥
सम्पत रूप लतायुत वनिता,–वेलालिंगित जानो ।
पुत्रादिक प्रिय पत्र तथा रति,–सुखफल सहित प्रमानो ॥
इम उपजा भव वनमें जन तरु, कालदवानलसे जो ।
व्याप्त न हो तो फेर अन्य क्या, बुधजन अवलोकै को ? ॥३५॥
बाँछैं हैं सुख मनुज जगतमें, कर्म दिया पर पावैं ।
निश्चय मरण लहैं हैं सब जन, तदपि तासु भय खावैं ॥

अणिमादि सुस्थमनस शक्ता किमत्रोच्यते, ध्वस्तास्तेऽपि परपरेण सपरस्तेभ्य कियान् राक्षस । रामाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोल्लङ्घ्य सोप्यम्बुधिम्, रामोप्यन्तकगोचर· समभवत्कोऽन्यो बलीयान्विधे· ॥ ३३ ॥ सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्त जगत्कानन,मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणका· । कालव्याध इमान्निहन्ति पुरत प्राप्तान् सदा निर्दय–स्तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोपि नो कश्चन ॥ ३४ ॥ सम्पच्चारुलतः प्रिया परिलसद्वल्लीभिरालिंगित· पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्राये फलैराश्रित । जात ससृतिकानने जनतरु कालोग्रदावानल,–व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥ ३५ ॥ वाछन्त्येव सुख तदत्र

१ पीडित । २ समुद्र । ३ बालक, जवान, और बूढा । ४ तो भी मरनेसे डरते हैं ।

इम इच्छा भय माहिं लीन चित, व्यर्थ मोहवश प्रानी ।
दुख-लहरनयुत भवसमुद्रमें, पड़ैं कुमति अगवानी ॥ ३६ ॥

इंद्रिय सुख जलमें क्रीड़त नित, जगतसरोवर माहीं ।
यम धीवर कर बूढ़ापनको, जाल जहाँ पसराहीं ।
तामें फँसकर लोकरूप यह, दीन मीन समुदाई ।
निकट प्राप्त भी घोर आपदा,—ओंको देखत नाहीं ॥ ३७ ॥

सुन गत जीवनको यमगोचर, [1] देख बहुतको जाते ।
मोह है (!) यह मानै तौ भी नर, आतम थिरता जातैं ॥
वृद्धाऽवस्था प्राप्त भये भी, जो न धर्म चित लावै ।
अधिक अधिक वह पुत्रादिक बं,-धनकर आत्म बँधावै ॥३८॥

निबल संधि बन्धनयुत तनु अघ,-कर्म शिल्पि निर्मायो ।
मलदोषादि भरो पुन नश्वर, विनशत वार न जाको ॥

विधिना दत्त पर प्राप्यते, नून मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थ कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुव, दु खोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधिय. ससारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥ स्वसुखपयसि दिव्यन्मृत्युकैवर्त्तहस्तः प्रसृतधन- जरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये । निकटमपि न पश्यत्यापदा चक्रमुग्र, भवसरसि वराको लोकमीनौघ एष. ॥ ३७ ॥ शृण्वन्नन्तकगोचर गतवत. पश्यन् बहून् गच्छतो, मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्य पर ह्यात्मन । सप्राप्तेऽपि च वार्द्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय य,—त्तद्बध्नात्यधिकाधिक स्वमसकृत्पुत्रादिभिर्बन्धनै ॥ ३८ ॥ दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचित दु.सन्धि

---

१ पापकर्मरूपी शिल्पकार (कारागीर) का बनाया हुआ । २ नाश होने-वाला ।

आधि व्याधि जरा मरणादिक जो, हों तो चित्र न यहाँ को
अचरज है बुधजन भी तनुमें, अवलोके थिरता जो ॥ ३९ ॥

सागरान्त भूभोगी वांछित, लक्ष्मी जगमें पाई।
पाये वे रमणीय विषय जो, सुर दुर्लभ है भाई ॥
पर पीछे आवेगी मृत्यू, तातै ते सब प्यारो।
विषमिश्रित भोजन सम धिग हैं, मुक्ति विचार जु सारो ॥४०

रणमें तब तक समरथ रथ गज,–अश्व; वीर गर्वी हैं।
मंत्र पराक्रम खड्ग तभी तक, साधक कार्य सभी हैं ॥
जब तक भूखा भक्षणइच्छुक, निर्दय काल जु मानो।
कुपित होय नहिं दौड़े सन्मुख; तासु यत्न बुध ठानो ॥४१॥

राजा भी क्षणमें विधिवश कर, अवश रंक हो जावे।
सर्व व्याधिसे रहित तरुण भी, शीघ्र नाशको पावे ॥

दुर्बन्धनम्, सापायस्थितिदोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम्। आधिव्याधिजरा-मृतिप्रभृतयो यच्चात्र चित्र न त,–त्तच्चित्र स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि य-न्मृग्यते ॥३९॥ लब्धा श्रीरिह वाछिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधि, प्राप्तास्ते विषया मनोहरतरा स्वर्गेऽपि ये दुर्लभा। पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्स-र्वमेतद्विषा,–श्लिष्ट भोज्यमिवाति रम्यमपि धिग्मुक्ति पर मृग्यताम् ॥ ४० ॥ युद्धे तावदल रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशम्, मन्त्रा शौर्यमसिश्च ताव-दतुला कार्यस्य ससाधका। राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जि-घत्सुर्यम', क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधै ॥ ४१ ॥

---

१ मानसिक दु ख। २ जरा बुढापा। ३ आश्चर्य। ४ समुद्रपर्यंत पृथ्वी। ५ विष (जहर) मिला हुआ। ६ तिसकालसे बचनेका उपाय (मोक्षकी प्राप्तिका उपाय)।

औरनसे क्या? साररूप जे, धन जीवन दो जानो।
तिनकी ऐसी थिति[1] जगमें तब, किसमें बुध मद ठानो॥४२॥
मुष्टीसे[2] वह व्योम[3] हनै वा, शुष्क[4] नदीको तिर है।
व्याकुल हो, वा मत्त हुआ तृ,-ष्णातुर[5] मृगजल[6] पिव है॥
ऊँचे पर्वतशिखरपवनकर,-कम्पित दीप समानी।
धन काँन्ता[7] सुत आदिकमें मद,-कर नर जो है मानी॥४३॥
व्याध-मृगी चपला लक्ष्मीको[8], भूपतिमृग अपनाई।
पुत्रादिक अन मृगन क्रोध कर, मारै ईर्षा लाई॥
तीर चढ़ाये धनुष भयंकर, भूषित है निश्चै जो।
कुपित रूप सन्मुख आया भी, काल न व्याध लखै सो॥४४॥

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रकायते निश्चितम्, सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोप्याशु क्षय गच्छति। अन्यै किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयो, ससारे स्थितिरीदृशीति विदुषा कान्यत्र कार्यो मद॥४२॥
हन्ति व्योम स मुष्टिनात्र सरित शुष्का तरत्याकुल-स्तृष्णार्तोऽथ मरीचिका· पिबति च प्राय: प्रमत्तो भवन्। प्रोत्तुगाचलचूलिकागतमरुत्प्रेखत्प्रदीपोपमै-र्य·सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभि· कुर्यान्मद मानव॥४३॥
लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीव चपलामाश्रित्यभूपा मृगा, पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्य किल। सज्जीभूतधनापदुन्नतधनु सलग्नसंहृच्छरं, नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्ध यम लुब्धकम्॥४४॥
मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन य शोककृत्, नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषा पुनर्निश्चितम्। दु खं वर्द्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रम, पाप रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घससारिता॥४५॥

---

१ स्थिति-हालत। २ मुट्ठीसे-मुक्केसे। ३ आकाश। ४ खुश्क-सूखी हुई। ५प्यास कर पीडित हुआ। ६ मरीचिका-मृगतृष्णा। ७ स्त्री। ८ लक्ष्मीरूपी अतिचचल और शिकारीकर पकडी हुई मृगीको।

मोही होकर शोक करै जो, इष्ट मरणपर कोई।
लाभ न ताको रंच मात्र पर, हानी निश्चय होई ॥
दुःख बढ़ै धर्मादि नशैं अरु, मति-विभ्रम हो जाई।
पाप रोग मृत्यू पुन दुर्गति, तातै जगत भ्रमाई ॥४५॥
यह जग है सब दुःखनिधाना, जब ह्याँ रहना ठाना।
दुःख माहिं किस हेतु सुजन तब, चित अपना अकुलाना ? ॥
जो अपना घर बांधि रहै है, मनुष चतुष्पथमाहीं।
लंघन आदि उपद्रवसे सो, क्यों शंकै मनमाहीं ?* ॥४६॥
क्या उसको वातूल कहै वा, भूताविष्ट बखानैं ?
भ्रान्तचित्त क्या उसको जानैं, वा उन्मत्त प्रमानैं ?
जीवनादिको विद्युत सम चल, जो देखै अरु जानै।
कर्णनसे अपने पुन सुन है; तौ हु न निज हित ठानै ॥४७॥
'हा ! मैं याको औषधि नहिं दी, मांत्रिकको न दिखाया'।
या विध शोक न करना बुधजन, स्वजन तजै जब काया ॥

आपन्मयससारे क्रियते विदुषा किमापदि विषाद·। कस्त्रस्यति लघनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥४६॥ वातूल एष किमु कि ग्रहसगृहीतो, भ्रान्तोऽथवा किमु जन· किमथ प्रमत्त । जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि, विद्युच्चल तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥४७॥ दत्त नौषधमस्य नैव कथित कस्याप्यय मन्त्रिणो, नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्त-

---

१ बुद्धिका बिगड जाना—अकलमें फतूर आ जाना। २ चौराहा। ३ उल्लघन—लाघकर जाना। ४ पागल। ५ जिसपर भूतका असर हो रहा हो। ६ मन्त्रवादी—स्याना। * मूलका सक्षिप्तानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

दो॰ "विपतमई जगमें सुजन, क्या विषाद दुखमाहिं।
लँघनेसे तब को डरै, करि घर चतुपथ माहिं ॥

जातैं काल समीप मनुजके, शिथिल यत्न सब होवैं।
जल छिड़कत दृढ चार्मिक बन्धन, जिम ढीले पड़ जावैं ॥४८॥
कालादिक लहि तेजयुक्त जो, कर्म सिंह बलधारी।
ताकरि पकड़ो शरणरहित भव, वनमें जन अविचारी॥
'मेरी भार्या मेरा धन-गृह, मेरा सुत परिवारा।'
अजेसुत सम इम 'मे मे' करता, मरण लहै बेचारा ॥४९॥
यम कर अतिशय पीड़ित ऐसी, आयु आपनी जानो।
दिन हैं गुरुतर खंड तासुके, यह निश्चय उर आनो॥
तिनको नित निज सन्मुख खिरते, लखिकर भी भविप्राणी।
अपनेको थिर मान रहो जो, सो क्यों नहिं अज्ञानी ॥५०॥
इंद्र चंद्र आदिक भी निश्चय, कालगाल जब जावैं।
निर्बल जन अल्पायु कीटसम;-की क्या बात सुनावैं ?॥
स्वजन मरणपर तातें भविजन, मोह वृथा मत कीजे।
काल न तनुमें खेलै जाकर, शीघ्र आत्म लख लीजे॥५१॥

रस्थे निजे। यत्नायान्ति यतोऽङ्गिन शिथिलता सर्वे मृते सन्निधौ, बन्धाश्चर्मविनिर्मिता' परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥ ४८ ॥ स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा, समाघ्रात साक्षाच्छरणरहिते संसृति वने। प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदम्, वदन्नेव मे मे पशुरिव जनो याति मरणम्॥ ४९॥ दिनानि खडानि गुरूणि मृत्युना, विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम्। पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रत:, स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जड ॥ ५० ॥ कालेन प्रलय व्रजन्ति नियत तेऽपीन्द्रचन्द्रादय, का वार्त्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुष.। तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोह वृथा मा कृथा:, काल: क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम्॥ ५१॥ सयोगो यदि विप्रयोगविधिना न्मे

१ चर्मके-चमडेके। २ बकरीके बच्चेके समान।

जो संयोग वियोग सहित वह, जन्ममृत्युयुत मानो ।
संपत विपदासे सुखदुखसे, निश्चय व्याप्त सुजानो ॥
बारबार गति जाति अवस्था;-धर बहुविध जगमाहीं ।
जीव नचै, नहिं हर्षशोक तब, कबहुँ सन्त मनमाही ॥ ५२ ॥

अपने हितकी चिन्ता निश दिन, लोक करै मनमाहीं ।
पर भावी अनुसार होय सब, यामें संशय नाहीं ॥
तातैं फैले तीव्र मोह वश, बहुविकल्प, तिन त्यागी ।
रागद्वेष विषरहित, सदा सुख,-में तिष्ठैं बड़भागी ॥ ५३ ॥

भविजन! यह घर नारी सुत अरु, जीवन आदिक जानो ।
पर्वनप्रताड़ित[1] ध्वजावस्त्रसम[2], चंचल सकल बखानो ॥
छोड़ धनादिक मित्रनमें यह, मोह महा दुखदाई ।
'जुगल' धर्ममें प्रीति करो अब, अधिक कहै क्या भाई?॥५४॥

तन्मृत्युना, सम्पच्चेद्विपदा सुख यदि तदा दुःखेन भाव्य ध्रुवम् । ससारे ऽत्र मुहुर्मुहुर्बहुविधावस्थान्तरप्रोल्लस-द्वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सत शोको न हर्ष क्वचित् ॥ ५२ ॥ लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिन कल्याणमेवात्मन', कुर्यात्सा भवितव्यताऽऽगतवती तत्तत्र यद्रोच्यते । मोहोल्लासवशादति प्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्, रागद्वेषविषोज्झितै-रिति सदा सद्भि. सुख स्थीयताम् ॥ ५३ ॥ लोका गृहप्रियतमासुतजी-वितादि,-वाताहतध्वजपटोग्रचल समस्तम् । व्यामोहमत्र परिहृत्य-धनादिमित्रे धर्मे मति कुरुत कि बहुभिर्वचोभि ॥ ५४ ॥ पुत्रादिशो-कशिखिशान्तकरी यतीन्द्र,-श्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः । सद्बो-

---

१ घिरा हुआ । २ जिस प्रकार झडेका कपडा तेज हवासे चलायमान होता है, उसी प्रकार यह सब (स्त्रीपुत्र धन जीवनादिक) चचल है, स्थिर रहनेवाले नहीं ।

पद्मनन्दि मुनिमुख जलंधरसे, उपजी भविसुखकारी।
पुत्र मित्र भार्यादि शोक आ,-ताप मिटावनहारी ॥
अमृतवृष्टि, सुबोध धान्यकी; 'जुगल' जन्मदातारी।
जयवन्ती बर्त्तो जगमें यह, अथिरभावना प्यारी ॥ ५५ ॥

इति अनित्यभावना।

धशास्य जननीजयतादनित्य,–पचाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥ ५५ ॥
इति श्रीअनित्यपचाशत् ॥

१ बादल। २ वर्षा-बारिश। ३ जननी–उपजानेवाली। ४ अनित्य भावना।

छपे हुए शुद्ध जैनग्रंथ मँगाइए और पढ़िए।

१	धर्मविलास या द्यानतविलास	... ... मूल्य	१)
२	मोक्षमार्गप्रकाश वचनिका	... ...	१॥)
३	प्रद्युम्नचरित सरल हिन्दीमें	... ...	२॥)
४	बनारसीविलास जीवनचरितसहित	...	१।)
५	वृन्दावनविलास	... ...	॥)
६	जैनपदसंग्रह प्रथम भाग ।≈), द्वितीय ।), चतुर्थ		॥≈)
७	भक्तामरस्तोत्र अर्थ और पद्यसहित	...	।)
८	जैननित्यपाठसंग्रह भाषा	... ...	॥)
९	भाषा पूजासंग्रह	... ...	॥)
१०	नित्यनियमपूजा	... ...	।)
११	द्रव्यसंग्रह अन्वय अर्थसहित	... ...	।)
१२	रत्नकरण्ड छोटा अन्वय अर्थसहित...	...	।)
१३	जैनविवाहपद्धति	... ...	≡)
१४	प्रवचनसार कवित्तबद्ध	... ...	१।)
१५	उपमितिभव प्रपंचाकथा प्रथमभाग...	...	॥)
१६	,, ,, द्वितीयभाग	...	१)

नोट—इसके सिवा और भी सब तरहकी पुस्तकें मिलती हैं। सूचीपत्र मँगाके देखिए।

मैनेजर, जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय,
हीराबाग पो० गिरगांव—मुम्बई।

जिनपूजाधिकार-मीमांसा।
लेखक—जुगलकिशोर मुख़्तार।

"प्रकाशककी ओरसे विनामूल्य वितरित।"

नमो जिनाय।

जिनपूजाधिकार-मीमांसा।

लेखक-

बाबू जुगलकिशोर मुख्तार, देवबन्द

जिला सहारनपुरनिवासी।

प्रकाशक-

सेठ नाथारंगजी गांधी, बम्बई।

श्रीवीरनि० संवत् २४३९

अप्रैल १९१३.

जो चाहता है अपना, कल्याण मित्र, करना।
जगदेकबन्धु जिनकी, पूजा पवित्र करना॥
दिल खोल करके उसको, करने दो कोइ भी हो।
फलते हैं भाव सबके, कुल जाति कोइ भी हो॥

—जैनहितैषी।

श्री अकलंकाय नमः ।

जिन-पूजाऽधिकार-मीमांसा ।
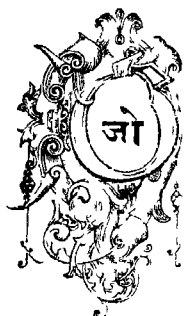
उत्थानिका ।

जो मनुष्य जिस मतको मानता है—जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है, वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा और उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते। ❀ शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उल्लंघन करके सक्रामक रोगकी तरह अड़ौसियों-पड़ौसियों, मिलने जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको चिपटता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेंद्र-देवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमांसा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है।

❀ इसी प्रकारके विचारोंसे **खातौली**के दस्सा और **बीसा** जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोंसे **सर्धना** जिला मेरठके जिन-मंदिरको करीब करीब तीनसालतक ताला लगा रहा ।

पूजन-सिद्धान्त ।

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है और विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है, आत्मासे भिन्न और पृथक् कोई एक ईश्वर या परमात्मा नही है। आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है—अरहत, जिनेन्द्र, जिनदेव तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या पर-मात्मपदके नामान्तर हैं-या दूसरे शब्दोंमे यो कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्तगुणोका समुदाय है। उसके अनन्त गुणोकी अपेक्षा उसके अनन्त नाम हैं। वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेप नही है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोसे अप्रसन्न होता, धनिक श्रीमानो, विद्वानो और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता आर न निर्धन कगालो, मूर्खों और निम्नश्रेणीके। मनुष्योको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानदमय और कृतकृत्य है, सासारिक झगडोसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनि-योकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते है और वह संक्षिप्तरूपसे यह है कि —

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोका आधार है। परन्तु अनादि कर्म-मलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तिया आच्छादित है-क-र्मोंके पटलसे वेष्टित है और यह आत्मा ससारमे इतना लिप्त और मोह-जालमे इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरणतक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो

कुछ थोडा बहुत ज्ञानादि लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोमेसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा **परमात्मा** कहलाता है। **केवलज्ञान** (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तबतक उस परमात्माको **सकलपरमात्मा** (जीवन्मुक्त) या अरहत कहते हैं और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है आर मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकल परमात्मा **निष्कलपरमात्मा** (विदेहमुक्त) या **सिद्ध** नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामे अपनी दिव्यवाणीके द्वारा ससारी जीवोको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात उनकी आत्मनिधि क्या है, कहा है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोसे आच्छादित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते है, ससारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दु खका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दु खकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि समस्त बातोका विस्तारके साथ सम्यक्प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित साधन करनेमे उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका नि सीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके **सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी** और **निर्निमित्तबन्धु** इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके बदलेमे हम (ससारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे

शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्शपुरुषके गुणोंमें भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है, वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है। क्योंकि गुणीके आश्रय विना कहीं भी गुण नहीं होता। आदरसत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। इस लिये परमात्मा[1], इन्हीं समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोंको समान भावसे पूज्य है। यही कारण है कि परमात्माके त्रैलोक्यपूज्य और जगत्पूज्य इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं। परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्माको पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने

---

१ इन्हीं कारणोंसे अन्य **वीतरागी** साधु और महात्मा भी जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियां विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने **उपदेश, आचरण** और **शास्त्रनिर्माण**से हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य हैं।

आत्मलाभसे वंचित रहता है–इतना ही नहीं, किन्तु वह कृतघ्नताके[1] दोषसे भी दूषित होता है।

अत परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अरहत अवस्थामे सदा और सर्वत्र विद्यमान नही रहता, इस कारण **परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेके आलम्बनस्वरूप** उसकी अरहत अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके **वीतरागता, शान्तता** और **ध्यानमुद्रा** आदि गुणोका प्रतिबिम्ब होती है। उसमे स्थापनानिक्षपसे मन्त्रोद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योकि मूर्त्तिके पूजनसे धातु पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, बल्कि मूर्त्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासनाकी जाती है। इसी लिये इस मूर्त्तिपूजनके **जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा** इत्यादि नाम कहे जाते है और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा —

> "भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाकृत्रिमा सदा।
> यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः॥"
>
> —धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ९, श्लोक ४२।

परमात्माकी इस **परमशान्त** और **वीतरागमूर्त्तिके** पूजनमे एक बडी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि जो ससारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपचमे अधिक फसे हुए है, जिनके चित्त अति चचल है और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल

---

१ अहसान फरामोशी–किये हुए उपकारको भूल जाना या कृतघ्नता।
"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धेर्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति॥"
—गोम्मटसार–टीका।

शास्त्रोंमे परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नकशेके परमात्म-स्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमे खींच सके या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सके, वे ही उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमे समर्थ हो जाते है और उसीसे आगामी दु खो और पापोकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमे अग्रसर होते है ।

जब कोई चित्रकार चित्र खीचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खीचनेका अभ्यास बढाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको नहीं खींच सकता । जब उसका अभ्यास बढ जाता है, तब कठिन, गहन और रगीन चित्रोको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बडा और बडेको छोटा भी करने लगता है । आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामे पूर्ण तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती, फिरती,-दौडती, भागती वस्तुओका भी चित्र बडी सफाईके साथ बातकी बातमे खीचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात जीता जागता चित्र भी अकित कर देता है । इसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फोटू अपने हृदयपर नहीं खीच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्त्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढाता है । मूर्त्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शन शन एकान्तमे बैठकर उस मूर्तिका फोटू अपने हृदयमे खीचने लगता है और फिर कुछ देरतक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है । ऐसा करने-पर उसका मनोबल और आत्मबल बढ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्त्तिके मूर्त्तिमान् श्रीअरहंतदेवका समव-सरणादि विभूति सहित साक्षात चित्र अपने हृदयमे खीचने लगता है । इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्राय मुनि अवस्थाहीमे होता है ।

आत्मीय बलके इतने उन्नत हो जानेकी अवस्थामे फिर उसको धातु पाषाणकी मूर्त्तिके पूजनादिकी वा दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नहीं रहती; बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमे परिपक्क होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है जिसको रूपातीतध्यान कहते है। इसप्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छाटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्ति-पूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) हीमे होती है । बल्कि दूसरे शब्दोंमे यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमे है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्त्तिपूजनकी या मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्यपूजन करना गृहस्थोका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

-

सर्वसाधारणाऽधिकार ।

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराण (महापुराण)मे लिखा है कि-

"दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥"

—पर्व ४१, श्लोक १०४ ।

अर्थात्–दान, पूजन, व्रतोंका पालन (व्रतानुपालनं शील) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोंका धर्म है ।

अमितगतिश्रावकाचारमे श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथा —

"दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः॥"

—अ० ९, श्लो० १।

श्रीपद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिकामे श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते है कि—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

—अ० ६, श्लो० ७।

अर्थात्–देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये षट्कर्म गृहस्थोको प्रतिदिन करने योग्य है–भावार्थ, धार्मिकदृष्टिसे गृहस्थोके ये सर्वसाधारण नित्य कर्म है। श्री सोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमे वर्णित उपासकाध्ययनमे इन्हीं षट्कर्मोंका, प्राय इन्ही (उपर्युल्लिखित) शब्दोमे गृहस्थोको उपदेश देते है। यथा —

"देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

—कल्प ४६, श्लो० ७।

गृहस्थोके लिये पूजनकी अत्यन्त आवश्यताको प्रगट करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते है कि—

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥"

—अ० ६, श्लो० १५।

अर्थात्–जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। इसी आवश्यक-

ताको अनुभव करते हुए श्रीसकलकीर्ति आचार्य सुभाषितवलीमे यहातक लिखते है कि —

"पूजां विना न कुर्येत भोगसौख्यादिकं कदा ।"

अर्थात्—गृहस्थोको विना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नहीं करना चाहिये । सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये । श्रीधर्मसग्रहश्रावकाचारमे गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि —

"इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ॥"

—अ० ९, श्लो० २६ ।

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृपिवाणिज्यादि जीवनोपाय), तप, दान, स्वाध्याय, और सयम, इन छह कर्मोको जो प्रतिदिन करते है, वे गृहस्थ कहलाते है । भावार्थ-धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोके छह नित्यकर्म हैं । गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है, वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहा पृथक नहीं कही गई ।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ मे निम्नलिखित श्लोको द्वारा यह सूचित करते है कि ये इज्या, वार्त्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोके षट्कर्म है । आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोकी कुलचर्या है और इसीको गृहस्थोका कुलधर्म भी कहते है —

"इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥ २४ ॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम् ।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ १४४ ॥"

महाराजा चामुण्डरायने चारित्रसारमे और विद्वद्वर प० आशाधरजीने सागरधर्मामृतमे भी इन्हीं षट्कर्मोंका वर्णन किया है । इन

षट्कर्मोंमे दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य है। इस विषयमें प० आशाधरजी सागारधर्मामृतमें लिखते है कि –

"दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।"

—अ० १, श्लो० १५।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य है और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है। भावार्थ—श्रावक वह है जो कृषिवाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राऽध्ययन भी करता है।

स्वामी कुंदकुंदाचार्य, रयणसार ग्रंथमे, इससे भी बढकर साफ तौरपर यहातक लिखते है कि बिना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोंमे यो कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नहीं होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये। यथा —

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मो तं विणा सोवि॥ १०॥"

अर्थात्—दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है। इसके विना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यानाऽध्ययन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है। जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है। भावार्थ—मुनियोंके ध्यानाऽध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म है।

ऊपरके वाक्योसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थका धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है—विना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और विना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नहीं पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खडेलवाल हो, या परवार आदि अन्य किसी जातिका, चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे व्रती हो या अव्रती,

चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी हैं, सभी श्रावक हैं, अतः सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानके अर्थात् जिस अरहंत परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊंच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते हैं-समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है-वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते हैं। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेंडककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। पुण्यास्रवकथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रंथोंमें यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रंथोंमें इसका निम्नलिखित प्रकारसे उल्लेख मात्र किया है। यथा —

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें,

"अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥" १२०॥

सागरधर्मामृतमें,

"यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
संकल्पतोऽर्पितं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥" २–२४॥

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुलाचल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा श्रेणिक आनन्दभेरी बजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीरजिनेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उससमय एक मेंडक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी बावड़ीमें रहता था और जिसको अपनी पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जा-

तिस्मरण होगया था, श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजाके लिये मुखमे एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमे महाराजा **श्रेणिकके** हाथीके पैरतले आकर वह मेंडक मर गया और पूजनके इस सकल्प और उद्यमके प्रभावसे, मरकर **सौधर्म स्वर्गमे** महर्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमे आया और **श्रीगणधरदेवके** द्वारा उसका चरित्र लोगोको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमे जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते है।

समवसरणको छोडकर और भी बहुतसे स्थानोपर तिर्यंचोके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। **पुण्यास्रव** और **आराधनासार-कथाकोशमे** लिखा है कि **धाराशिव** नगरमे एक बॅबी थी जिसमे **श्रीपार्श्वनाथ** स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मजूषेमे रक्खी हुई थी। एक **हाथी**, *जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाबसे* अपनी सूडमे पानी भरकर लाता और उस बॅबीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उस-पर छोडता और फिर एक कमलका फूल चढाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका **पूजन** करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बॅबीको खुदवाया और उसमेसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलनेपर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमे वह हाथी मरकर **सहस्रारस्वर्गमे** देव हुआ। इसीप्रकार तिर्यंचोके पूजनसबधमे और भी अनेक कथाएँ है। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते है, तब ऐसा कौन मनुष्य होसकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेंद्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो? अभिप्राय यह कि, आत्महितचिन्तक सभी प्राणि-योके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद ।

पूजन कई प्रकारका होता है। **आदिपुराण, सागरधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार** आदि ग्रन्थोमे **नित्य**[1], **अष्टान्हिक**[2], **ऐन्द्रध्वज**[3], **चतुर्मुख**[4], और **कल्पद्रुम**[5], इस प्रकार पूजनके पांच भेद वर्णन किये है। **वसुनन्दिश्रावकाचार** और **धर्मसंग्रहश्रावकाचार-**

---

१ **नित्यपूजन**का स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२-३, "जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यै साध्या त्वैन्द्रध्वजो मह ॥"-सागरधर्मा०।

अर्थात्-नन्दीश्वर पर्वमे (आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोंके अन्तिम आठ आठ दिनोंमे)जो पूजन किया जाता है, उसको **अष्टाह्निक** पूजन कहते है और इन्द्रादिक देव मिलकर जो पूजन करते है, उसको **ऐन्द्रध्वज** पूजन कहते है।

४ "महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामह।
चतुर्मुख स विज्ञेय सर्वतोभद्र इत्यपि ॥"—आदिपुराण।
"भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्या सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहा ॥—सागारध०।

अर्थात्—मुकुटबद्ध (माण्डलिक) राजाओंके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसको **चतुर्मुख** पूजन कहते है। इसीका नाम **सर्वतोभद्र** और **महामह** भी है।

५ "दत्वा किमिच्छुक दान सम्राड्भिर्य प्रवर्त्यते।
कल्पवृक्षमह सोऽय जगदाशाप्रपूरण ॥"—आदिपुराण।
"किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य य।
चक्रिभि क्रियते सोऽर्हद्यज्ञ कल्पद्रुमो मत ॥"—सागारध०।

अर्थात्—याचकोंको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशाको पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट्द्वारा जो जिनेंद्रका पूजन किया जाता है, उसको **कल्पद्रुम** पूजन कहते है।

मे प्रकारान्तरसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ऐसे

१ "उच्चारिऊण णाम, अरुहाईण विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाईणि खिविज्जति विण्णेया णामपजा सा ॥"
—वसुनन्दिश्रा० ।

अर्थात्—अर्हतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमे जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते है, उसको **नाम**पूजन कहते है ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमे जिनेन्द्रादिके गुणोका आरोपण और सकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको **स्थापना**पूजन कहते है। स्थापनाके दो भेद है—१ **सद्भावस्थापना** और २ **असद्भावस्थापना**। अरहतोकी **प्रतिष्ठाविधि**को **सद्भावस्थापना** कहते है । (स्थापनापूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रथ ।) ।

३ "दव्वेण य दव्वस्स य, जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेण गधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईण सचित्तपूजा जहाजोग्ग ॥
तेसि च सरीराण दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा ।
जा पुण दोण्ह कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥
—वसुनन्दिश्राव० ।

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको **द्रव्य**पूजन कहते है । जलचदनादिकसे पूजन करनेको **द्रव्यसे** पूजन करना कहते है और **द्रव्यकी** पूजा **सचित्त, अचित्त** और **मिश्रके** भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेद्रादिके पूजनको **सचित्त** द्रव्यपूजन कहते है । उन जिनेद्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको **अचित्त** द्रव्यपूजन कहते है और दोनोके एक साथ पूजन करनेको **मिश्रद्रव्यपूजन** कहते है । द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद है ।

४ "जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्तिमोक्खसपत्ति ।
णिसिही सुखेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनदि श्रा० ।

अर्थात्—जिन क्षेत्रोमे जिनेद्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए है, उन क्षेत्रोमे जलचदनादिकसे पूजन करनेको **क्षेत्रपूजन** कहते है ।

छह प्रकारका पूजन भी वर्णन किया है। परन्तु संक्षेपसे पूजनके, **नित्य** और **नैमित्तिक**, ऐसे दो भेद है। अन्य समस्त भेदोका इन्हींमे अन्त-र्भाव है। अष्टान्हिक आदिक चार प्रकारका पूजन **नैमित्तिक** पूजन कह-लाता है और **नामादिक** छह प्रकारके पूजनोमे कुछ **नित्य** नैमित्तिक और कुछ दोनो प्रकारके होते हैं। **प्रतिष्ठा** भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोमे बहुतसे ऐसे भी भेद है जिनमे पूजनकी विधि प्राय. नित्यपूजनके ही समान होती है और दोनोके पूजकमे

---

५ "गर्भादि पचकल्याणमर्हता यद्दिनेऽभवत् ।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम ॥
स्नपन क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभि ।
तत्र गीतादिमाङ्गल्य कालपूजा भवेदियम ॥"

—धर्मसग्रहश्रा० ।

अथात्—जिन तिथियोमे अरहतोके गर्भ, जन्मादिक कल्याणक हुए हैं, उनमे तथा नदीश्वर, दशलक्षण और रत्नत्रयादिक पर्वोमे जिनेंद्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मागलिक कार्य करनेको **कालपूजन** कहते है।

६ "यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम् ।
त्रिकाल क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥
परमेष्ठिपदैर्जाप क्रियते यत्स्वशक्तित ।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्र साप्यर्चा भावपूर्विका ॥
पिडस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम् ।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥"

—धर्मसग्रहश्रा० ।

अर्थात्—जिनेंद्रके अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख और अनत वी-र्यादि गुणोकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दना की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पच परमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते है। पिडस्थादिक ध्या-नोका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रथोंमे विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहासे जानना चाहिये।

भी कोई भेद नहीं होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक, इस लिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे पूजनके **नित्य-पूजन** और **प्रतिष्ठादिविधान**, ऐसे भी दो भेद कहे जाते हैं और इन्हीं दोनो भेदोंकी प्रधानतासे **पूजकके** भी दो ही भेद वर्णन किये गये है– एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको **पूजक** कहते है और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको **पूजकाचार्य** कहते है। जैसा कि **पूजासार** और **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**के निम्नलिखित श्लोकोसे प्रगट है —

"पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः॥ १६॥"

—पूजासार।

"नित्यपूजा-विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते।
द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत्॥ ९–१४२॥

—धर्मसंग्रहश्रा०।

चतुर्मुखादिक पूजन तथा **प्रतिष्ठादि** विधान सदाकाल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोसे इनका अनुष्ठान हो सकता है–क्योंकि **कल्पद्रुम** पूजन चक्रवर्त्ति ही कर सकता है, **चतुर्मुख** पूजन मुकुटबद्ध राजा ही कर सकते है, **ऐन्द्रध्वज** पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं, इसी प्रकार **प्रतिष्ठादि** विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर-सकते है–इस लिये सर्व साधारण जैनियोंके वास्ते **नित्यपूजनहीकी** मुख्यता है। ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमे '**दिने दिने**' और '**अन्वहं**' इत्यादि शब्दो द्वारा **नित्यपूजनका** ही उपदेश दिया गया है। इसी **नित्यपूजनपर** मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊंच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समानअधिकार है अर्थात् सभी **नित्यपूजन** कर सकते है।

नित्यपूजनको **नित्यमह**, **नित्याऽर्चन** और सदार्चन इत्यादि भी कहते हैं।

नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने **आदिपुराणमें** इसप्रकार वर्णन किया है –

"तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥"

—अ ३८, श्लो० २७ ।

अर्थात—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षतादिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्य-पूजन कहते हैं । धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है । यथा –

"जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥"

—९–२७ ।

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका—सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लौंग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके, जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है । नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नहीं है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई खास द्रव्यसे या किसी खास संख्यातक पूजाएँ की जावे, बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोंसे, कोई थोडा पूजन करता और थोडा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है, एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोडा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है—इसी प्रकार यह भी कोई नियम नहीं है कि मंदिरजीके उपकरणोंमें और मंदिरजीमें रक्खे हुए वस्त्रोंको पहिनकर ही नित्यपूजन किया जावे । हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध वर्तनोंमें सामग्री बनाकर मंदिरजीमें ला सकते हैं और खुशीके साथ पूजन कर सकते हैं । जो लोग ऐसा करनेके लिये

असमर्थ हे या कभी किसी कारणसे ऐसा नहीं कर सकते है, वे मन्दिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते है, इसीलिये मदिरोमे उनका प्रबध रहता है। बहुतसे स्थानोपर श्रावकोके घर विद्यमान होते हुए भी, कमसे कम दो चार पूजाओके यथासभव नित्य किये जानेके लिये, मदिरोमे पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबध कह सकते है, अन्यथा, शास्त्रोमे इस प्रकारके पूजन सम्बन्धमे, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है—जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है —

"ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम् ।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः ॥"

—अ ४-१९० ।

अर्थात्—सध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजन योग्य द्रव्योको लेकर, समस्त भव्यजीवो द्वारा पूजित जो जिनमदिर वहा जावे। भावार्थ–गृहस्थोको जिनमदिरमे पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विना द्रव्यके मदिरजीमे जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नही है। क्योंकि यदि किसी अवस्थामे द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये नित्यपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया है।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त, "जिनबिम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमन्दिरके खर्चके लिये दानपत्र द्वारा ग्राम गृहादिकका मदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमे ही दाखिल (परिगृहीत) है।" जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योसे प्रगट है:—

"चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् ।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥ २८ ॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥ २९ ॥"

श्रीसागारधर्मामृतमे भी नित्यपूजनके सम्बधमे समग्र ऐसा ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मदिरजीमे त्रिकाल[3] देववन्दना–अरहतदेवकी आराधना–करनेको भी नित्यपूजन कहते है । यथा —

"प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना ।
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम् ॥
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया ।
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥२–२५"

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे, भी "त्रिसंध्यं देववन्दनम्" इस पदके द्वारा ९ वे अधिकारके श्लोक नं २९ मे, त्रिकाल देववन्दनाको नित्यपूजन वर्णन किया है । और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, "बलि, अभिषेक (हवन), गीत, नृत्य, वादित्र, आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष है और जिनको भक्तपुरुष सम्पादन करते है, उन सबका नित्यादि पच प्रकारके पूजनमे अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेसे, जो नित्य किये जाते है या नित्य किये जानेको है, वे

---

१ इन दोनो श्लोकोका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर " " दिया गया है ।

२ आदिपुराणके श्लोक न २७,२८,२९ के अनुसार ।

३ आदिपुराणमे पूजनके अन्य चार भेदोका वर्णन करनेके अनन्तर श्लोक न. ३३ में त्रिकाल देववन्दनाका वर्णन "त्रिसध्यासेवया समम्" इस पदके द्वारा किया है ।

भी नित्यपूजनमे समाविष्ट हैं ।" जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणोसे प्रगट है —

"बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥"

—सागारधर्मा० अ० २, श्लो० २९ ।

"बलिस्नपनमित्यन्यत्रिसंध्यासेवया समम् ।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥"

—आदिपुराण० अ० ३८, श्लो० ३३ ।

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम ही पूजन है। पूजा, भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्राय एकार्थवाची हैं और उसी एक आशय और भावके द्योतक है। इसप्रकार पूजनका स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नित्यपूजन करनेसे नहीं चूकना चाहिये। सबको आनद और भक्तिके साथ नित्यपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार ।

यहापर, जिनके हृदयमे यह आशका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते है या नहीं? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये है तब शूद्र, जो कि मनुष्य है और तिर्यंचोसे ऊंचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं है? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते? जब शूद्रोको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोको धारणकर ऊचे दर्जेके श्रावक बन सकते है और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं, किन्तु ऊचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लकतक) होते आये है, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब विना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और

शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनको पूजनका अधिकार स्वत. सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमें, जहां तिर्यंच भी जाकर पूजन करते है, वहा जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते है, उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते है और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते है । श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—समवसरणमें जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारो वर्णोंके स्त्रीपुरुषोने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नही, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहातक प्रभाव पडा कि कुछ तिर्यंचोने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्म-श्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन सम्बंधमे बहुतसी कथाऐं प्रसिद्ध हैं । पुण्यास्रवकथाकोशमें लिखा है कि एक माली (शूद्र) की दो कन्याए, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था, प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमदिरकी देहलीपर चढ़ाया करती थी। एक दिन वनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनो कन्याएं मरकर इस पूजनके फलसे सौधर्मस्वर्गमे देवी हुई।" इसी शास्त्रमे एक—पशुचरानेवाले नीच कुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमे जाकर, चुपकेसे नहीं किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामा मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) मे एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोंमें चढाया और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममे महाप्रतापी राजा करकुंडु हुआ। यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमें भी लिखी है। इस ग्रथमे ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है —

"तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।
'भोः सर्वोत्कृष्ट ! मे पद्मं ग्रहाणेदमिति' स्फुटम् ॥१५॥

उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम्।
गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥"

करकुडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम होगया कि, सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही है–तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोपर चढा दिया और इसके पश्चात वह ग्वाला मदिरसे चला गया । ग्रन्थकार कहते है कि, भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योको भी सुखका देनेवाला होता है । इसीप्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बधमे और भी बहुतसी कथाएँ हैं ।

कथाओको छोडकर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोपर शूद्रलोग पूजन करते है । जो जैनी शूद्र है वा शूद्रोका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गई, वे तो पूजन करते ही हे, परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र है जो प्रगटपने वा व्यवहारमे जैनी न होते वा न कहलाते हुए भी, किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होनेके कारण, उन स्थानोपर बराबर पूजन करते है—चांदनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रो और श्रीसम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोपर ऐसे शूद्रपूजकोकी कमी नहीं है । ऐसे स्थानोपर नीच ऊच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती है । जिन लोगोको चैतके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते है कि चैत्रशुक्ला चतुर्दशीसे लेकर तीन चार दिनतक कैसी कैसी नीच जातियोके मनुष्य और कितने शूद्र, अपनी अपनी भाषाओमे अनेक प्रकारकी जय बोलते, आनदमे उछलते और कूदते, मदिरके श्रीमडपमे घुस जाते हैं और वहापर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढ़ाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मदिरसे बाहर निकलते है । बल्कि वहां तो रथोत्सवके समय यहांतक होता है कि मदिरका व्यासमाली,

जो चढ़ी हुई सामग्री लेनेवाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला ह, स्वय वीरभगवानकी प्रतिमाको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उससे उनको पाप बन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वालेको कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होनी और मालीकी लडकियोको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रका शूद्रोंसे भी नीचापद धारण करनेवाले मेंडक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके सकल्प और उद्यम मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूडमें पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढ़ाकर बॉबीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे, अगले ही जन्ममें मनुष्यभवके साथ साथ राज्यपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म नहीं हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोशमें भी ग्वालेके इस पूजन कर्मको सत्कर्म ही लिखा है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक न १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिये स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वे अधिकारमें लिखा है कि—

> "यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
> दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥ २२५ ॥
> यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
> जातितीर्थप्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः ॥ २२६ ॥"

अर्थात्—ब्राह्मणोके—पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढाना, दान देना, और दान लेना—ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोके पूजन करना, पढ़ना और दान देना-ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेदसे दो प्रकार हैं। इससे साफ प्रगट है

कि पूजन करना जिसप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसीप्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वे अधिकारके श्लोक न १४२ मे, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले-के दो भेद वर्णन किये है—एक नित्यपूजन करनेवाला, जिसको पूजक कहते है। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको पूजकाचार्य कहते है। इसके पश्चात दो श्लोकोमे, ऊचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात पूजकका स्वरूप इसप्रकार वर्णन किया है —

"ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः॥ १४३॥
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः।
गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः॥ १४४॥"

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र, इन चारो वर्णोंमेसे किसी भी वर्णका धारक, जो—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतकर सहित हो सत्य और शौचका दृढतापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला हो, सत्यवान् शौचवान् और दृढाचारी हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाच अव्रतो (पापो) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मत्रसे युक्त हो वा ऐसे मत्रसे जिसका सस्कार हुआ हो, वह उत्तम पूजक कहलाता है। इसीप्रकार पूजासार ग्रथमें भी पूज-कके उपर्युक्त दोनो भेदोका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोमे नित्य-पूजकका, उत्कृष्टापेक्षा, प्राय समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है। यथा.—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः॥ १७॥

कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः।
गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥ १८ ॥"

ऊपरके इन दोनो ग्रथोके प्रमाणोसे भली भाति स्पष्ट है कि, शूद्रोको भी श्रीजिनेद्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्यपूजक होते है। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते है।

यहापर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया-गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप है वा उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है, यह सब, किस आधारपर माना जावे? इसका उत्तर यह है कि-धर्मसंग्रहश्रावकाचारके श्लोक न १४४ मे जो "एष" शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द "एतद्" शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आपटे कृत कोशमे इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमे desirable और to be desired किया है। सस्कृतमे इसका अर्थ प्रशस्त, प्रशसनीय और उत्तम होता है। इसीप्रकार पूजासार ग्रथके श्लोक न २८ मे जहां-पर पूजक और पूजकाचार्यका स्वरूप समाप्त किया है वहापर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि, "एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते।" (अर्थात ऐसे लक्षणोसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामे प्रशसनीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द "शस्यते" साफ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनो ग्रथोमे इन दोनो शब्दोसे साफ प्रकट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनों शब्द (एष और शस्यते) दोनो ग्रथोमे न भी होते, या थोडी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी, ऊपर कथन [illegible] पूजनसिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि, यह स्वरूप ऊचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि लक्षण लक्ष्यके सर्व देशमे व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नहीं है जो साधारणसे

साधारण पूजकमें भी पाया जावे, इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जावे अर्थात्–इसको ऊचे दर्जेके नित्य-पूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे बल्कि, नित्य पूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोमे पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आज कलके प्राय· किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नहीं रहता। क्योकि सप्त शीलव्रत और हिंसादिक पच पापोके त्याग रूप पच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामें ही होता है और वर्त्तमान जैनियोमे इस प्रतिमाके धारक, दो चार त्यागियोंको छोडकर, शायद कोई विरले ही निकले! इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बडा भारी विरोध आता है। क्योकि जैनशास्त्रोंमे मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये है—

१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म, जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है अर्थात्–श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारभ कर दिया है, परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता, उस प्रारब्ध देश सयमीको पाक्षिक कहते है। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमे तत्पर है उसको नैष्ठिक कहते है और जो आत्मध्यानमे तत्पर हुआ समाधिपूर्वक मरण साधन करता है उसको साधक कहते है*। नैष्ठिकश्रावकके दर्शनिक, व्रतिक आदि ११ भेद है जिनको ११ प्रतिमा भी कहते है। व्रतिक श्रावक अर्थात्–दूसरी प्रतिमावालेसे पहली प्रतिमावाला, और पहली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक, नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोमें यो कहिये कि पाक्षिकश्रावक, मूल भेदोकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते हैं। परन्तु शास्त्रोमे व्रतिकके समान, दर्शनिकहीको नहीं किन्तु, पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जैसा कि धर्मसंग्रहश्रावका-

---

*"पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिक साधक. स्वयुक॥ २०॥

—सागारधर्मामृते।

चार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा उनके स्वरूप कथनसे प्रगट है —

"सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतिपालकः ।
अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥"

"पाक्षिकाचारसम्पत्या निर्मलीकृतदर्शनः ।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः ॥ १४ ॥
मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः ।
न्याय्यां वार्त्ता वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोंमे, "अर्चादिनिरतः" (पूजनादिमे तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और "अर्हदादिपदाऽर्चक" (अर्हन्तादिकके चरणोका पूजनेवाला) इस पदसे, दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमे, जिसका अन्तिम काव्य, "सैष प्राथमकल्पिक " इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचारवर्णन किया है । उसमे भी, "यजेत देवं सेवेत गुरून् " इत्यादि श्लोको द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है । भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमे निम्न लिखित श्लोक द्वारा सूचित करते है कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावक मात्रका प्रथम कर्म है। यथा —

"एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥"

प. ३८–३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये अर्थात्–ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये, जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत वा संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमे ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी

वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रंथोंसे प्रगट है कि, स्वर्गादिकके प्राय सभी देव, देवांगना सहित, समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्र-देवका पूजन करते है, नंदीश्वर द्वीपादिकमें जाकर जिनबिम्बोंका अर्चन करते है और अपने विमानोंके चैत्यालयोंमें नित्यपूजन करते हैं। जगह जगह शास्त्रोंमे नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परन्तु वे सब अव्रती ही होते है-उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नहीं होता। देवोंको छोडकर अव्रती मनुष्योंके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमे स्थान स्थान-पर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते है और जिन-वाणीको सुनकर उनमेंसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीरजिनेंद्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे। और जिन्होंने अपनी राजधानीमें, स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणा-दिकमें मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ लिखा है कि —

"दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम् ॥ ३२ ॥"

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी, पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएँ-मैं पहले, ऐसी शीघ्रता करती हुई प्राप्त होती है। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या? उसको वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती है।

इससे यही सिद्ध हुआ कि-धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे, जो व्रतीश्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजक मात्रका स्वरूप नहीं है किन्तु ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहांपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमे आच-

रण सम्बधी कथनशैलीका लक्ष्य प्राय उत्कृष्ट ही रक्खा गया मालूम होता है। प्रत्येक ग्रथमे उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोंका वर्णन नहीं किया गया है। किसी किसी ग्रथमे ही यह विशेष मिलता है। अन्यथा जहा तहा सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है। इसके कारणोपर जहातक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। दूसरे समस्त भेद-प्रभेदोका वर्णन करनेसे ग्रथका विस्तार बहुत ज्यादह बढता है और इस ग्रथ-विस्तारका भय हमेशा ग्रथकर्त्ताओको रहता है। क्योकि विस्तृत ग्रथके सम्बधमे पाठकोमे एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमे नहीं होती। तथा ऐसे ग्रथका रचना भी कोई आसान काम नहीं है—समस्तविषयोका एक ग्रथमे समावेश करना बढा ही दु साध्य कार्य है। इसके लिये अधिक काल, अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आवश्यक्ता है। तीसरे ग्रथोकी रचना प्राय ग्रथकारोकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रथकार सक्षेपप्रिय होते है और कोई विस्तारप्रिय-उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रथमे, जिस विषयको मुख्य रक्खे और चाहे, जिस विषयको गौण। जिस विषयको ग्रथकार अपने ग्रथमे मुख्य रखता है उसका प्राय विस्तारके साथ वर्णन करता है। और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है। यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रथमे विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रथमे। बल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रथमे मिलती है और कोई किसी ग्रथमे। दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमे, देवाधिदेव चरणे "तथा"अर्हच्चरणसपर्या " इन, पूजनके प्रेरक और पूजन-फल प्रतिपादक, दो श्लोकोके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने, पद्मनंदिपंचविंशतिकामे, गृहस्थियोके लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है। परन्तु पूजन और पूजकके भेदोका कुछ वर्णन नहीं किया। वसुनन्दिआचार्यने, वसुनन्दिश्रावकाचारमे, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन

किया है। इसीप्रकार **सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार** और **पूजासार** वगैरह ग्रंथोमे भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है, परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रंथमे नहीं मिलता। कोई बात किसीमे अधिक है और कोई किसीमे। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओके कथनको लीजिये–बहुतसे ग्रंथोमे इनका कुछ भी वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया वा प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२ व्रतोका वर्णन कर दिया है। **रत्नकरण्डश्रावकाचारमे** इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। **वसुनन्दिश्रावकाचारमे** उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु **सागारधर्मामृतमे**, अपेक्षाकृत, प्राय अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोकी समझ लेनी चाहिए। अब यहापर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रंथकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यो कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यो नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि, **प्रथमतो** उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमे अनुराग नहीं होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नही कहते, + इससे उसके लिये साधन अवश्य चाहिये। **दूसरे** ऊचे दर्जेके आचरणमे किंचित् भी स्वलित होनेसे स्वत. ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। समार्गिजीवोकी प्रवृत्ति और उनके सस्कार ही प्राय उनको नीचेकी ओर ले जाते है, उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नही। **तीसरे** ऊचे दर्जेको

+ **सागारधर्मामृत**के प्रथम श्लोककी टीकामे लिखा है, **"यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणां देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः।"** अर्थात् यतिधर्ममे अनुराग रहित गृहस्थियोका **'देशव्रत'** भी मिथ्या है। **सकलविरतिमे** जिसकी लालसा है वही **देशविरति**के परिणामका धारक हो सकता है। इससे भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई तब ही कहलाया जा सकता है जब वह ऊचे दर्जेके आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे उसको धारण न कर सकता हो।

छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमे दुर्बुद्ध और दण्डनीय कहा है, जैसा कि स्वामी अमृतचंद्रआचार्यके निम्न लिखित वाक्योसे ध्वनित है —

"यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि संप्रतप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

यह शासन दड भी सक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमे कुछ कम प्रेरक नहीं है। इन्हीं समस्त कारणोसे आचरण सम्बधी कथनशैलीका प्राय उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रथमे तो यह उत्कृष्टता यहातक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नही किया है। बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचारमे, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसंधिभट्टारककृत जिनसंहितामे पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस सहितामे इतनी विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दकर ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दकर पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए पूजासार ग्रथके, "पूजकः पूजकाचार्य. इति द्वेधा स पूजक.," इस वाक्यसे प्रगट है—तथापि साधारण ज्ञानवाले मनुष्योको इससे भ्रम होना सभव है। अत. यहापर यह बतला देना जरूरी है कि उक्त जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमे पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस सहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार लिखा है'—

"अथ वक्ष्यामि भूपाल ! शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षितं भगवद्दिव्यवचस्यखिलगोचरे ॥ १ ॥

त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्नदुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातंकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥ ४ ॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानी न मायिकः ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥ ६ ॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणनेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥ ७ ॥

"यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपंकजं
जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत्
तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः ॥ ८ ॥

भावार्थ इसका यह है कि, "हे राजन्, मै अब श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हू, उसको तुम सुनो । "जो तीनो वर्णोंमेसे किसी वर्णका धारक हो, रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान् हो और विद्वान् हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है । (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमे प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीचकर्म करके आजीविका करनेवाला, रोगी, अधिक अंगवाला, अंगहीन, अधिक लम्बेकदका, बहुत छोटेकदका (वामना), भोला वा मूर्ख, निद्रालु वा आलसी, अतिवृद्ध, बालक,

अतिलोभी, दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिन-संहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको-यत्नके साथ जिनेंद्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला ही ग्रहण करना चाहिये—दूसरा नहीं। यदि ऊपर कहे हुए गुणोवाला पूजक, इन्द्र समूहकर वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे, तो राजा और देश तथा पूजन करनेवाला और करानेवाला सब सुखके भागी होते है।"

अब यहापर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण-नित्यपूजकका है या ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा यह स्वरूप पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका स्वरूप हो नहीं सकता। क्योकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहा भी पूर्ण रूपसे घटित होते है, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमे वर्णन किये हुए ऊचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये है। बल्कि इस स्वरूपमे कुछ बाते उससे भी अधिक है, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होती है और जो विस्तार भयसे यहा नही लिखी जाती। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नही है विद्वान् नही है, चतुर नहीं है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसंहिताको नही जानता, जिसका कद अधिक लम्बा या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अति-मानी, मायाचारी और लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तग (संकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३ लाख जैनियोमे शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमे भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोकी आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन-के स्वरूपसे ही प्रगट है। अत आगमसे विरोध आने तथा पूजन

सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पडनेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्य पूजकका नहीं हो सकता । इसी प्रकार यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका भी नहीं हो सकता । क्योंकि ऊंचे दर्जेके नित्य-पूजकका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोमे वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आचुका है, उससे इस स्वरूपमे बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है । यहापर अन्य बातोके सिवा त्रैवर्णिक-को ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, परन्तु ऊपर अनेक प्रमाणोसे यह सिद्ध किया जाचुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते है और ऊचे दर्जेके नित्यपूजक होसकते हैं। इसलिये यह स्वरूप ऊचे दर्जेके नित्यपूजकतक ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ जाता है ।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊचे दर्जेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है । जब एक दर्जेका मुख्य रूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता । जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणुव्रत) और देशचा-रित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नही किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमें महाव्रतीके लक्षण नहीं वह व्रती ही नहीं हो सकता । व्रती वह जरूर हो सकता है, परन्तु महाव्रती नहीं कहला सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रंथकार महोदयके लक्ष्यमे यह स्वरूप ऊचे दर्जेके नित्य पूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्य पूजकका सर्वथा निषेध न करते-अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नहीं या पूजन करनेका अधिकारी नहीं । क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्यपूजन कर सकता है । यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो । परन्तु ग्रंथकार महोदय, "उक्तलक्षणामेवार्यः कदाचिदपि नाऽपरम्" इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्धद्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षण रहित दूसरे मनु-ष्यके पूजकपनेका निषेध करते है, बल्कि छट्ठे श्लोकमे यहांतक लिखते हैं

कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षण रहित) पुरुष पूजन कर ले, तो राजा, देश, पूजन करनेवाला, और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेंगे । इससे प्रगट है कि उन्होने यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है । भावार्थ, इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्यपूजकके साथ नियमित सम्बन्ध (लजूम) न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्य पूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। बल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजनविधानमे पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करानेवाला दूसरा होता है । क्योकि स्वय उपर्युक्त श्लोकोमे आये हुए, "कर्तृकारकयो·" "गृह्णीयात्" और "तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः" इन पदोंसे भी यह बात पाई जाती है । "यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं," "उक्तलक्षणमेवार्य.," ये पद साफ बतला रहे है कि यदि यह वर्णन नित्य पूजकका होता तो यह कहने वा प्रेरणा करनेकी जरूरत नहीं थी कि पूजनविधान करानेवालेको तलाश करके उक्त लक्षणोवाला ही पूजक (पूजनविधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं । इसीप्रकार पूजनफलवर्णनमे "कर्तृकारकयो." इत्यादि पदोद्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई जरूरत नहीं थी, परन्तु चूंकि ऐसा किया गया है, इससे स्वय ग्रथकारके वाक्योसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है । तब यह स्वरूप किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमे यही कहना पडता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये हैं—१ एक नित्यपूजन करनेवाला और २ दूसरा प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला–उनमेसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजकका ही होसकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजकाचार्य और इन्द्र भी कहते हैं । प्रतिष्ठादि विधानमे ही प्राय ऐसा होता है कि विधानका करनेवाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा । तथा ऐसे ही विधानोका शुभाशुभ असर कथचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदिपर पड़ता है । प्रतिष्ठाविधानमे प्रतिमाओमें मन्त्रद्वारा अर्हतादिककी प्रतिष्ठा की जाती है । अतः जिस मनुष्यके मन्त्रसामर्थ्यसे प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं

होसकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप, **धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूजासार** और **प्रतिष्ठासारोद्धार** आदिक जैनशास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्रायः सब बातें मिलती हैं। जिससे भलेप्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमें पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नहीं है, तथापि प्रसंगवश यहांपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना जरूरी है ताकि यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमे भी प्राय यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यका वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई संदेह बाकी न रहे। सबसे प्रथम **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**हीको लीजिये। इस ग्रंथके ९ वे अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं० १४५ से १५२ तक आठ श्लोकोंमें पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं —

"इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः ॥ १४५॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥ १४६ ॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वितः।
शौचाचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः ॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणविन्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः।
निरभिमानी मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः ॥ १४९ ॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥ १५० ॥

न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ १५१ ॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च ।
नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी १५२॥"

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोमे जो—"ब्राह्मण- (ब्राह्मण हो), क्षत्रिय (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षित· (शरीरसे सुन्दर हो), सद्दृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देशसंयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैनशास्त्रोका जाननेवाला हो), अनालस्यः (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनयसहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमे उत्साहवान् हो), साङ्गोपाङ्गयुत· (ठीक अङ्गोपाङ्गका धारक हो), शुद्धः (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधी· (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसंतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद हैं उसमेंसे किसी भेदका धारक-हो), नीरोग· (रोगरहित हो), सत्क्रियारतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊंची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नात· (जलस्नान, मन्त्रस्नान और व्रतस्नानकर पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनाङ्गः (अगहीन न हो), नाऽधिकाङ्ग· (अधिक अगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे कदका न हो), न वामनः (छोटे-कदका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्ध (बूढा न हो), नाऽतिबालक· (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्यः (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोमेसे किसी कषायका धारक न हो), नार्थार्थी (धनका लोभी तथा धन लेकर पूजन करनेवाला न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"— इत्यादि विशेषणपद आये है, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामे जो विशेषण पूजकके दिये है वे सब यहांपर साफ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं । बल्कि श्लो० नं १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक न. ४

से प्राय यहातक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोमे जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक न ६ और ८ से बिलकुल मिलता जुलता है। यथा —

"ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥ १५३ ॥
कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ १५४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम्।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥ १५५ ॥

अर्थात्—यदि इन दोषोका धारक पूजकाचार्य कहींपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते है और प्रतिष्ठा करनेवाला तथा करानेवाला ही अच्छे फलको प्राप्त दोनो नहीं होते इस लिये उपर्युक्त उत्तम उत्तम लक्षणोसे विभूषित ही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये है, यदि उन लक्षणोसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे, तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होते है।

पूजासार ग्रथमें भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक न० १९ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है। इस स्वरूपमे भी पूजकाचार्यके प्राय वेही सब विशेषण दिये गये हैं जो कि **धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे** वर्णित है और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथा —

"लक्षणोल्हासी, जिनागमविशारद, सम्यग्दर्शनसम्पन्न, देशसंयमभूषित, वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थ, अनालस्य, ऋजु, विनयसयुत., पूतात्मा, पूतवाग्वृत्ति.,

१ शरीरसे सुन्दर हो २ पापाचारी न हो ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो

शौचाचमनतत्पर, साङ्गोपाङ्गेन सशुद्ध, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाराऽरतिकोऽपि वा, जलमन्त्रव्रतस्नात, निरभिमानी, विचक्षण', सुरूपी, सत्क्रिय, वैश्यादिषु समुद्भव, इत्यादि।"

इसी प्रकार **प्रतिष्ठासारोद्धार** ग्रथके प्रथम परिच्छेदमे, श्लोक न० १० से १६ तक, जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमे भी—
"कल्याणाङ्ग, रुजा हीन., सकलेन्द्रिय, शुभलक्षणसम्पन्न, सौम्यरूप, सुदर्शन, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्य, विकर्मकरणोऽज्झित, ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टि, नि कषाय, प्रशान्तात्मा, वैश्यादिव्यसनोज्झित, दृष्टसृष्टक्रिय, विनयान्वित, शुचि, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधी, महापुराणशास्त्रज्ञ, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोसे प्रतिष्ठाचार्यके प्राय वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये हैं, जो कि **जिनसंहितामे** पूजकके और **धर्मसंग्रहश्रावकाचार** तथा **पूजासार** ग्रथोमे पूजकाचार्यके वर्णन किये है।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको सक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे, किसीने एकशब्दमे वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोमे, अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमे वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योको अच्छीतरह समझानेके लिये अनेक विशेषणोमे वर्णन कर दिया परन्तु आशय सबका एक है, अत सिद्ध है कि जिनसहितामे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमे प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह सक्षिप्त रूपसे, आचरण सम्बधी कथनशैलीका रहस्य है। **धर्मसंग्रहश्रावकाचार** और **पूजासार** ग्रन्थमें जो साधारणनित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है, उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनो ग्रथोमे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमें शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे, शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्य पूजक हो सकता है। तथापि इतना और समझ

लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोका पात्र है जो कि, नित्य पूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वी प्रतिमाको धारण करके ऊचे दर्जेका श्रावक भी होसकता है अत उसके ऊंचे दर्जेके नित्य पूजक हो सकनेमे कोई बाधक भी प्रतीत नही होता। वह पूर्ण रूपसे नित्य पूजनका अधिकारी है। अब जिन लोगोका ऐसा खयाल है कि शूद्रोंका उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) संस्कार नहीं होता और इस लिये वे पूजनके अधिकारी नहीं हो सकते, उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी खास भेदको छोडकर आमतौरपर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्म-सूत्र-जनेऊ)का होना जरूरी नहीं है। स्वर्गादिकके देव और देवागनाये प्राय सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते है और खास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये है, परन्तु उनका यज्ञोपवीत सस्कार नहीं होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्यस्त्रियोकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोमे पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई है। स्त्रियोकी पूजनसम्बन्धिनी असख्य कथाओसे जैनसाहित्य भरपूर है। उनका भी यज्ञोपवीत सस्कार नहीं होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओमे जिन गज–ग्वाल आदिने जिनेन्द्र-देवका पूजन किया है वे भी यज्ञोपवीत सस्कारसे सस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्य पूजकके लिये यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत होना लाजमी और जरूरी नही है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है। जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८–३९–४१ मे, भगवज्जिन सेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योसे प्रगट है —

"व्रतचिह्नं दधत्सूत्रम् "
" व्रतसिद्ध्यर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्
" व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्
" व्रतचिह्नं च न सूत्रं पवित्र सूत्रदर्शितम्।"
" व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागत.।"

वर्त्तमान प्रवृत्ति (रिवाज) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होता है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना जरूरी नहीं समझा जाता। क्योकि स्थान स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत है परतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे

संस्कृत (जनेऊधारक) विरले ही जैनी देखनेमें आते है। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीतसबधी क्रियाकर्मसे वे कोसो दूर हैं। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोमे तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्त-प्रात और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीतसस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोसे उठ गई है परन्तु नित्यपूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नहीं है और इस लिये **जनेऊका न होना शूद्रोको नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नहीं हो सकता**। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मदिरमे प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके, परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खडित नहीं होजाता। वह अपने घरपर त्रिकाल देववन्दना कर सकता है जो नित्यपूजनमे दाखिल है। तथा तीर्थस्थानों, अतिशय क्षेत्रो और अन्य ऐसे पर्वतोपर—जहा खुले मैदानमे जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और जहा भील, चाण्डाल और म्लेच्छतक भी विना रोक-टोक जाते है—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे ही मदिरके शिखरादिकमे स्थित प्रतिमाओका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमे प्राय जो जिनमन्दिर बनवाये जाते थे, उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहा सर्व साधारणको दृष्टि पट सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा जरूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियां भी जो अस्पृश्य होनेके कारण, मदिरमे प्रवेश नहीं कर सकती, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सके। यद्यपि आजकल ऐसे मदिरोके बनवानेकी वह प्रशसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका प्रधान कारण जैनियोका क्रमसे ह्रास और इनमेसें राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है—तथापि दक्षिण देशमे, जहांपर अन्तमे जैनियोका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहासे जैनियोंका राज्य उठे-हुए बहुत अधिक समय भी नहीं हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमदिर विद्यमान है जिनके शिखरादिकमे जिनप्रतिमाएँ अकित है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी है और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते है। नित्यपूजनमे उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोंको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हो, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोमे वर्णन किये हैं। बल्कि उनके विना भी वे पूजन कर-सकते हैं और करते हैं। क्योकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रथोमे वर्णन किया है वह ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप है और जब वह स्वरूप ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वत सिद्ध है कि उस स्वरूपमे वर्णन किये हुए गुणोमेसे यदि कोई गुण किसीमे न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है–दूसरे शब्दोंमे यो कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन)–परिग्रह- इन पच पापो या इनमेसे किसी पापका त्याग नही है, जो दिग्विरतिआदि सप्त-शीलव्रत या उनमेसे किसी शीलव्रतके धारक नहीं है अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नहीं है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित है, वे भी नित्यपूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधि-कार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा ? अथवा फलप्राप्तिमे अपने अपने भावोकी अपेक्षा उनके क्या कुछ न्यूना-धिक्यता (कमीबेशी) होगी ? और वह यहापर विवेचनीय नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकाश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए देखे जाते है जो हिंसादिक पाच पापोके त्यागरूप पंचअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं है, तथापि प्रथमानुयोगके ग्रथोको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नहीं बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहा तहा जैन-शास्त्रोंमे दियेहुए अनेक उदाहरणोसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है —

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इसविषयमें उसकी जो कुछ भी

प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, "जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूंगा।" नहीं कह सकते कि उसने कितनी परस्त्रियोका जो किसी भी कारणसे उससे रजामन्द (सहमत) होगई हो–सतीत्वभग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहा बात ही कहा? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमे अनेक स्थानोपर ऐसा वर्णन मिलता है कि "महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमदिर बनवाये। वह राजधानीमे रहतेहुए अपने राजमन्दिरोके मध्यमे स्थित श्रीशांतिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमे बडे ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमदिरोका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया।

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था। उसने वीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमे डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्यकृत तथा जिनदास ब्रह्मचारीकृत दोनो हरिवंश पुराणोंमे लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकडों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमे पापियो तथा अव्रतियोंका पापाचरण कहीं भी उनके पूजनका प्रतिबन्धक नहीं हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोके इस पूजन कर्मको असत्कर्म बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेंद्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वय पापोका नाश करनेवाला है, शास्त्रोमे उसे अनेक जन्मोके संचित पापोको भी क्षणमात्रमें भस्मकर देनेवाला वर्णन

किया है* । इसीसे पापोंकी निवृत्तिपूर्वक इष्ट सिद्धिके लिये लोग जिन-देवका पूजन करते है । फिर पापाचरणीयोके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है ? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामे, पूजनकी और भी अधिक आ-वश्यकता प्रतीत होती है । पूजासार ग्रथमे साफ ही लिखा है कि —

"ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत् ।
जिनाङ्घ्रिगंधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम् ।।"

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या कियेहुए हो, दूसरोका माल चुरा-नेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोका करनेवाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेद्र भगवानके चरणोंका, भक्तिभावपूर्वक, चदनादि सुगध द्रव्योसे पूजन करनेपर तत्क्षण उन पापोसे छुटकारा पानेमे समर्थ होजाता है । इससे साफ तौर पर प्रगट है कि **पापीसे पापी और कलकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेद्रदेवका पूजन कर सकता है** और भक्ति भावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है । इस लिये जिस प्रकार भी बन सके सबको नित्य-पूजन करना चाहिये । सभी नित्यपूजनके अधिकारी है और इसी लिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य तिर्यच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाऽधिकार है । समानाधिकारसे, यहा, कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एकसाथ मिलकर एक थालीमे, एक मंडली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजनकरनेके अधिकारी है किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी है । वे, एक रसोई या भि-न्नभिन्न रसोईयोसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाजत (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते है ।

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पाप नानाभवोद्भवम् ।
बहुकालचित काष्टराशि वह्निमिवाखिलम् ॥ ९—१०३ ॥
—धर्मसग्रहश्रावकाचार ।

दस्साधिकार ।

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जातिविशेष नहीं रही जिसके पूजनाऽधिकारकी मीमांसा की जाय–जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले, ऊंच नीच सभी प्रकारके, मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है–तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमें इस प्रकारकी कुछ शका अवशेष हो कि दस्से (गाटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नहीं, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममे 'दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नहीं है, न कहींपर जैनशास्त्रोमे 'दस्से' और 'बीसे' शब्दोका प्रयोग किया गया है ।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारो वर्णोंसे बाह्य (बाहर) बीसोंका कोई पाचवॉ वर्ण नहीं है, उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नहीं है । चारो वर्णोंमे ही उनका भी अन्तर्भाव है । चारो ही वर्णके सभी मनुष्योको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है । वैश्य जातिके दस्सोका वर्ण वैश्य ही होता है । वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोसे ऊचा दर्जा रखते है और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोसे ऊचा दर्जा रखते है । जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये है–और तिर्यंच भी कैसे ? मेडक जैसे ! तब वैश्य जातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नहीं ? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नहीं होते ? अथवा श्रावकके बारह व्रतोको धारण नहीं करसकते ? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते है और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वचित रक्खे जा सकते हैं ? पूजन करना गृहस्थ जैनियोका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अग्रवाल, खंडेलवाल या परवार आदि जातियोका कोई बन्धन नहीं है–सबके लिये समान उपदेश है–जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्योंके वाक्योसे प्रगट है । परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योको भी पूजनाऽधिकारसे वचित नहीं रक्खा, जो आकण्ठ पापमे मग्न है और पापीसे पापी कहलाते है । फिर

---

१ वैश्यजातिके दस्सोको **छोटीसरण** (श्रेणि) या **छोटीसेन**के बनिये अथवा **विनैकया** भी कहते है ।

वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या होसकती है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि विना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतःसिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमे दस्से जैनियोके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मदिर और अनेक चैत्यालय मौजूद हैं। ग्वालियरमे भी दस्सोका एक मदिर है। सिवनीकी तरफ दस्से भाईयोके बहुतसे जैनमदिर है। श्रीसम्मेद शिखर, शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थोंपर शोलापुरवाले प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनायेहुए जिनमदिर हैं। इन समस्त मदिर और चैत्यालयोमे दस्सा, बीसा, सभी-लोग बराबर पूजन करते है।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचद नेमिचंदजी आनरेरी मजिष्ट्रेट दस्सा जैनी है। उनके घरम एक चैत्यालय है जिसमे वे और अन्य भाई सभी पूजन करते है। इसी प्रकार अन्य स्थानोपर भी दस्सा जैनियोके मन्दिर है जिनमे सब लोग पूजन करते है। जहा उनके पृथक् मदिर नहीं है वहा वे प्राय बीसोंके मदिरमे ही दर्शन पूजन करते है।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करनेको अथवा मदिरके वस्त्रो और मदिरके उपकरणोमे पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोंमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो और इसी अभिप्रायके अनुसार कहीं कहींके बीसे अपने मदिरोमे दस्सोंको मदिरके वस्त्र पहनकर और मदिरके उपकरणोको लेकर अष्ट द्रव्यसे पूजन न करने देते हो, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते हैं—शास्त्रमे इसका कोई आधार और प्रमाण नहीं है। पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानो और अतिशय क्षेत्रोकी पूजा वन्दनाको—दस्से बीसे—सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते हैं।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचंद पद्मसी नामके एक मुनीम है जो दस्सा जैनी है। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मदिरमे—मन्दिरके वस्त्रोको पहन कर और मदिरके उपकरणोको लेकर ही—नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोपर भी—जहाके बीसोमें इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा

जैनी बीसोंके मदिरमे उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते हैं जिस प्रकार कि वे अपने मंदिरोंमे करते है। जिनको ऐसा देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वय देख सकते हैं। उधर जानेपर उनको ऐसी जैनजातियां भी आम तौरपर पूजन करती हुई मिलेंगी जिनमे पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोंने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई है। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचंदने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोंकी दो प्रतिष्ठाएं हो चुकी है। प्रतिष्ठा करानेवाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमे बैठते है और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते है। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाऽधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है। किसी किसीका कहना है कि अपध्वंसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते है और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नहीं होते, परन्तु ऐसा कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है। जब प्रवृत्तिकी ओर देखते है तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमे डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वय व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी दस्सा समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी सतान भी दस्सोमे ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी संतान व्यभिचारजात न होते हुए भी दस्सा ही कहलाती है। बहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सोंमे शामिल नहीं की जाती। कहीं कहींपर दस्सेकी कन्यासे विवाह कर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज (च्युत) करके दस्सोंमें शामिल कर देते हैं, परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमें यह प्रथा नहीं है। वहांपर दस्सों और बीसोंमें परस्पर

विवाह संबध होनेसे कोई जातिच्युत नहीं किया जाता । हमारी भारतवर्षीय **दिगम्बरजैनमहासभाके** सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान **सेठ माणिकचंदजी जे पी** बम्बईके भाई **पानाचंदजीका** विवाह भी एक **दस्सकी** कन्यासे हुआ था, परन्तु इससे उनपर कोई कलक नहीं आया और कलक आनेकी कोई बात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोमे, ऐसी ही देखी जाती है जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धोपर कोई दोषारोपण नहीं हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं है। श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा **वसुदेवजीको** ही लीजिये। उन्होने एक **व्यभिचारजातकी** पुत्रीसे, जिसका नाम **प्रियगुसुंदरी** था, विवाह किया था। **प्रियंगुसुंदरीके** पिताका अर्थात उस **व्यभिचारजातका** नाम **एणीपुत्र** था । वह एक **तापसीकी** कन्या **ऋषिदत्तासे**, जिससे **श्रावस्ती** नगरीके राजा **शीलायुधने** व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा **श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे** लिखी है। इस विवाहसे **वसुदेवजीपर**, जो बड़े भारी जैनधर्मी थे कोई कलक नहीं आया। न कहींपर वे पूजनाधिकारसे वचित रक्खे गये। बल्कि उन्होने **श्रीनेमिनाथजीके** समवसरणमे जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त **प्रियंगुसुंदरी** राणीने जिनदीक्षा धारण की है। इससे प्रगट है कि **व्यभिचारजातही**[1]का नाम **दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात** (अपध्वसज) **पूजनाऽधिकारसे वचित है।** "**शूद्राणां तु सधर्माण. सर्वेऽपध्वसजा. स्मृता.**" अर्थात् समस्त अपध्वसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोके समानधर्मी हैं, यह वाक्य यद्यपि **मनुस्मृतिका** है, परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वसजोहीको **दस्से** समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वचित नहीं हो सकते । क्योकि **शूद्रोंको** साफ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है। जब **शूद्रोंको** पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समानधर्मियोको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वत सिद्ध है।

---

1 व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते है।

और पूजनका अधिकार ही क्या? जैनशास्त्रोंके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षातक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णहीको लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यामे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था और इस लिये वह अपध्वंसज और कानीन कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमे जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारीकृत हरिवंशपुराणमे भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है:—

"विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके॥ २६-२०८॥"

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि अपध्वंसज लोग अपने वर्णको छोड़कर शूद्र नहीं हो जाते, बल्कि वे शूद्रोंसे कथचित् ऊचा दर्जा रखते हैं और इसीलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद होता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वचित रहेंगे—भर्त्तारके जीवित रहनेपर जो संतान जारसे उत्पन्न होती है, वह कुंड कहलाती है। भर्त्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको गोलक कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचारद्वारा जो संतान उत्पन्न होती है वह कानीन कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है, उसको सहोढ कहते हैं—इन चारों भेदोंमेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा

(पचान) तथा प्राय. सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है, परन्तु कुंडसंतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुंडसंतानकी परीक्षाका, कोई साधन नहीं है, जो भर्त्तारके बारहों महीने निकट रहते हुए (अर्थात् परदेशमें न होते हुए) उत्पन्न हो। कुडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नहीं हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना संभव है—वह भी ठीक ठीक नहीं कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्त्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वञ्चित करनेपर कुंडसंतान भी पूजन नहीं कर सकती, और कुंड सतानकी परीक्षा न हो सकनेसे सदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। संदिग्धाऽवस्थामें किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नहीं होसकता। इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यही बड़ी भारी हानि होगी। अत. कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं होसकता। दूसरे जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते हैं तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वंचित नहीं रह सकता। जिन लोगोंने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है और जो आत्मासे परमात्मा बनना नहीं मानते, यदि वे लोग शूद्रोंको या अन्य नीच मनुष्योंको पूजनके अधिकारसे वंचित रक्खें तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि उनको यह भय हो सकता है कि कहीं नीचे दर्जेके मनुष्योंके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनी लोग परमात्माको परमवीतरागी, शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते हैं। उनके इष्ट परमात्मामें राग, द्वेष, मोह और काम, क्रोधादिक दोषोंका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा—स्तुतिसे उस परमात्मामें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामें किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित

हो सकती है। इसलिये किसी शुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामे कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अपूज्य हो जायगी, अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोंके हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकता। जैनियोंके यहां इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी) आदि अनेक स्थानोंपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योद्वारा भूगर्भसे निकाली गई–स्पर्शी गई–पूजी गई और पूजी जाती हैं, परन्तु इससे उनके स्वरूपमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ, न उनकी पूज्यतामे कोई फर्क (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पड़ा, प्रत्युत वे बराबर जैनियोहीसे नहीं किन्तु अजैनियोसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोंका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अत. जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नहीं हो सकता। दस्सा, अपध्वंसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनको पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे–एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घरू या अपने अधिकृत मंदिरमे ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकारपर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमे नहीं तो, अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वय समर्थ और इस योग्य होनेपर अपना दूसरा नवीन मदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्थानोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहांपर यदि यह कहा जावे कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानोंपर वे बराबर पूजन करते भी हैं; परन्तु कहीं कहींपर दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है; तो कहना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य विरुद्ध ऐसा दंड विधान करना कदापि न्यायसंगत और माननीय नहीं हो सकता

और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी संतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।

सांसारिक विषयवासनाओंमे फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्म कार्योंमे शिथिल रहते है, उलटा उनको दंड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावें, यह कहांकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता हो सकती है? सुदूरदर्शी विद्वानोकी दृष्टिमे ऐसा दंड कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमें तो वही दंड प्रशंसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन और अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोंका शमन या संशोधन कर सके। न यह कि डूबतेको और धक्का दिया जावे! बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुडाकर उसको पापकार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लंघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उस भाईपर कुछ आर्थिक दंड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जबतक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तबतक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोमे अर्थात् विवाह शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादरी उसके यहा ऐसे कार्योंमें सम्मिलित हो। इसीप्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बंध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममे हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओंकी अवज्ञा करती है।

जिन लोगों (जैनियों) के हृदयमें ऐसे दंडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमें विघ्न

करना बड़ा भारी पाप है। अंजनासुंदरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़े ही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन पूजनमें अंतराय डाला था। जिसका परिणाम यहातक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममे २२ वर्षतक पतिका दु सह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट और आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रथमें श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि "दूसरोंके पूजन और दानमे अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीडा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत उष्णके आताप और (कुयोनियोंमे) परिभ्रमण आदि अनेक दु.खोंकी प्राप्ति होती है।" यथा –

"खयकुट्टसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्हवक्षराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥"

इसलिये पापोसे डरना चाहिये और किसीको दडादिक देकर पूजनसे वचित करना तो दूर रहो, भूल कर भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योंमें किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसहार।

उचित तो यह है कि, दूसरोंको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दियाजाय और दूसरोंकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सके और जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी जरूरत है। अपने पूर्वजोंके उदार-चरित्रोंको पढकर, जैनियोंको, उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोंका हितसाधन करना चाहिये।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरतमहाराज, प्रथम चक्रवर्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनबिम्बोसे अलंकृत चौबीस चौबीस घंटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारों तथा अन्य महाद्वारोंपर, सोनेकी जंजीरोंमें बांधकर प्रलम्बित किया था। जिससमय भरतजी इन द्वारोमेसे होकर बाहर निकलते थे या इनमे प्रवेश करते थे उससमय वे तुरन्त अर्हन्तोका स्मरण करके, इन घंटोमे स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगो तथा अन्य प्रजाजनोने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसंद किया, वे सब उन घंटोंका आदर सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घंटे अपने अपने घरोके तोरणद्वारोपर लटकाये*। भरतजीका यह उदारचरित बड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षाप्रदान करनेवाला है। उनके अन्य

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करनेवाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वे आर्षवाक्य इसप्रकार है.—

"निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः।
पराध्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभि ॥ ८७ ॥
लम्बिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः।
राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः।
तदा मौलाग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८९ ॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिवन्दनाम्।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ९० ॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ९३ ॥
पौरैर्जनैरलः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः ॥ ९४ ॥

उदार गुणों और चरित्रोंका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैकड़ों और हजारों महात्माओंका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनसाहित्यमें उदारचरित महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और दक्षिणादिदेशोंमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमाओंसहित मानस्तंभादिक पाये जाते हैं, वे सब जैन पूर्वजोंकी उदार चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। उदारचरित महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकबार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बंध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बडी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोका, "वसुधैव कुटुम्बकम्,"[1] यह खास सिद्धान्त था, क्या वे उसको यहातक भुला बैठें कि अपने सहधर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करे! जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्षा द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्यौंसंबंधी कषायको धार्मिक कार्योंमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं। जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति) के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं। वास्तवमे चारो ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एव जिनेंद्र-देवकी पूजा उपासना करनेके योग्य हैं और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमे भाई भाईके समान हैं *। इसलिये, हृदयकी संकीर्णताको त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर

---

१ समस्त भूमंडल अपना कुटुम्ब है।

*"विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा प्रोक्ता क्रियाविशेषत ।
जैनधर्मे परा शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमा ॥"

—सोमसेनाचार्य।

बन्धुताका बर्त्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमें सहायक होना चाहिये । इसीप्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवें या आना चाहें, ऐसे नवीन जैनियों या आत्महितैषियोंका सच्चे दिलसे अभिनन्दन करते हुए, उनको सब प्रकारसे धर्मसाधनमें सहायता देनी चाहिये ।

आशा है कि हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमांसाको पढ़कर सत्यासत्यके निर्णयमें दृढता धारण करेंगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहां कहीं, सुशिक्षाके अभाव और संसर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओंके उद्देश्यविरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसको उठाने और उसके स्थानमे शास्त्रसम्मत समीचीन रीतिका प्रचार करनेमें दत्तचित्त और यत्नशील होंगे । इत्यल विज्ञेपु ।

निष्पक्ष विद्वानोंका चरणसेवक—

जुगलकिशोर जैन, मुख़तार

देवबन्द जि० सहारनपुर ।

(ट्रैक्ट नम्बर १)

वन्दे जिनवरम् ।

जैनी कौन होसकताहै ?

लेखक-

बाबू जुगलकिशोर मुख्तार

देवबंद

जिसको

प्यारेलाल जैन मन्त्री

श्रीकुरीतिनिवारिणी जैनसभा धामपुर ने

लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय

मुरादाबाद में

छपाकर प्रकाशित किया.

प्रथमावृत्ति २०००	श्रीवीरनिर्वाण सं० २४४० सं० १९७१	की० [illegible] पैसा सैकड़ा [illegible]) रु०

Printed by Lakshmi Narayan
at the Lakshmi Narayan Press,
MORADABAD.

वन्दोजिनवरम् ।

जैनी कौन होसकता है

मंगलाचरणम् ।

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥

जो जीव जैन धर्मको धारण करता है ।

जैनी कौन हो सकता है ?

[लेखक—बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, देवबन्द ।]

जो जीव जैनधर्मको धारण करता है, वह जैनी कहलाता है। परन्तु आजकलके जैनी जैनधर्मको केवल अपनी ही पैतृक सम्पत्ति समझ बैठे हैं और यही कारण है कि, वे जैनधर्म दूसरोंको नहीं बतलाते और न किसी मनुष्यको जैनी बनाते हैं। शायद उनको इस बातका भय हो कि, कहीं दूसरे लोगोंके शामिल होजाने से हमारे इस मौरूसी तरकेमें अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्सेमें बहुत

ही थोड़ासा जैनधर्म बाकी न रह जाय। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी गलती है और आज इसी गलतीको दूर करनेके लिये यह लेख लिखा जाता है।

हमारे जैनी भाई इस बातको जानते हैं और शास्त्रोंमे भी जगह जगहपर हमारे परमपूज्य आचार्योंका यही उपदेश है कि, संसारमें दो प्रकारकी वस्तुएँ हैं। एक चेतन और दूसरी अचेतन। चेतनको जीव और अचेतनको अजीव कहते हैं। जितने जीव है, वे सब द्रव्यत्वकी अपेक्षा वा द्रव्यदृष्टिसे बराबर हैं, किसी मे कुछ भेद नहीं है, सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है। परन्तु अनादि कालसे जीवोंको कर्मका मैल (मल) लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित हो रहा है, और ये जीव नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए दृष्टिगोचर होरहे हैं। कीड़ा, मकोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, बघेरा, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाएँ इसी कर्ममलके परिणाम हैं और जीवकी इस अवस्थाको विभाव-परिणति कहते हैं।

जबतक जीवों में यह विभावपरिणति बनी रहती है, तब ही तक उनको संसारी कहते हैं और तभी तक उनको संसारमें नाना-प्रकार के रूप धारण करके परिभ्रमण करना पडता है। परन्तु जब किसी जीवकी यह विभावपरिणति मिट जाती है, और उसका निज-स्वभाव सर्वाङ्ग और पूर्णतया प्रकट होजाता है तब वह जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, और इस प्रकार जीवके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

ऊपरके कथनानुसार जीवोंका जो असली स्वभाव है, वही उनका

धर्म है और इसी धर्मको प्राप्त करानेवाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि, जैनधर्म ही सब जीवोंका निजधर्म है। इसलिये प्रत्येक जीवको जैनधर्मके धारण करनेका अधिकार प्राप्त है। यही कारण है कि, हमारे पूज्य तीर्थकरों और ऋषियोंने पशु-पक्षियों तकको जैनधर्मका उपदेश दिया है और उनको जैनधर्म धारण कराया है, जिनके सैकडों और हजारों दृष्टान्त प्रथमानुयोग के शास्त्रोंके (कथाग्रन्थोंके) देखनेसे मालूम हो सकते हैं।

हमारे अन्तिम तीर्थकर श्रीमहावीर स्वामी जब अपने इस जन्मसे नौजन्म पहिले सिंहकी पर्यायमें थे, तब उन्हे किसी बनमें एक महात्माके दर्शन करते ही जातिस्मरण हो गया था और उसी समय उक्त महात्माके उपदेशसे उन्होंने श्रावकके बारह व्रत धारण कर लिये थे। केसरीसिंह होकर भी किसी जीवको मारना और मांस खाना छोड दिया, सूखे तृण और पत्तोंपर जीवन व्यतीत करना अंगीकार किया और इस प्रकार जैनधर्मको पालते हुए सिंहपर्याय को छोडकर उन्होंने पहिले स्वर्गमे जन्म लिया और वहांसे उन्नति करते करते अन्तमें जैनधर्मके प्रसादसे तीर्थंकरपद प्राप्त किया।

श्रीपार्श्वनाथपुराणमे अरविन्द-मुनिके उपदेशसे एक हाथीके जैन-धर्म धारण करने और श्रावकके व्रत पालन करनेके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है:-

अब हाथी संजम साधै। त्रस जीवन भूल विराधै।
समभाव छिमा उर आनै। अरि मित्र बराबर जानै॥
काया कसि इन्द्री दंडै। साहस धरि प्रोषध मंडै।
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै॥

हाथीगण जो पीवो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी॥
देखे बिन पाँव न राखै। तन पानी पंक न नाखै।
निजशील कभी नहिं खोवै। हाथिनी दिशभूल न जोवै
उपसर्ग सहै अति भारी। दुर्ध्यान तजे दुखकारी॥
अघके भय अंग न हालै। दृढ धीर प्रतिज्ञा पालै।
चिरलौं दुद्धर तप कीनो। बलहीन भयो तनछीनो॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावे ऐसे गज काल गमावे॥
एक दिन अधिक तिसायो। तब वेगवतीतट आयो।
जलपीवन उद्यम कीयो। कादोद्र कुंजर बीधो॥
निश्चय जब मरण विचारो। सन्यास सुधी तब धारो।

इससे साफ प्रकट है कि, अच्छा निमित्त मिलजाने और शुभकर्म का उदय आजाने से पशुओंमें भी मनुष्यता आजाती है और वे मनुष्योंके समान धर्मका पालन करने लगते हैं। क्योंकि द्रव्यत्व की अपेक्षा सब जीव चाहे वे किसी भी पर्यायमें क्यों न हों, आपस में बराबर हैं। यही हाथीका जीव, जैनधर्मके, प्रसादसे इस पशुपर्यायको छोड़कर बारहवे स्वर्गमें देव हुआ और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता २ कुछ ही जन्म लेनेके पश्चात् हमारा पूज्य तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ हुआ।

इसी तरह और बहुतसे पशुओंने जैनधर्मको धारण करके अपनी आत्माका कल्याण किया है। जब पशुओंतकने जैनधर्मको धारण किया है, तब फिर मनुष्योंका तो कहना ही क्या है वे तो सर्व प्रकारसे इसके योग्य और दूसरे जीवोंको इस धर्ममें लगाने वाले ठहरे। वास्तवमें यदि पूछा जाय, तो किसी भी देश जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मके धारण करनेकी कोई

मनाही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशी से जैनधर्म को धारण करसकता है।

जैनशास्त्रों और इतिहासके देखनेसे यह बात बिल्कुल साफ होजाती है और इस विषयमें कोई सन्देह बाकी नहीं रहता है कि,हमेशा से प्रत्येक जातिके मनुष्यने इस पवित्र जैनधर्मको धारण करके बड़ी भक्ति और भावके साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रियलोग पहिले अधिकतर जैनधर्मका ही पालनकरते थे। इस धर्म से उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे जगत्‌का और अपनी आत्माका कल्याण करनेवाला इसी धर्मको समझतथे। हजारों और लाखों ऐसे राजा होचुके हैं, जो जैनी थे या जिन्होंने जैनधर्म की दीक्षा धारणकी थी खासकर हमारे जितने तीर्थंकर हुए हैं,वे सबही क्षत्रियथे। इस समय भी जैनियों में बहुत से जैनी ऐसे हैं, जो क्षत्रियों की संतानमेंसे हैं परन्तु उन्होंने क्षत्रियों का कर्म छोड़ कर वैश्यका कर्म अंगीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण लोग भी पहिले जैनधर्म को पालन करते थे और इस समय भी कहीं २ सैकड़ों ब्राह्मण जैनी पाए जाते हैं। जिस समय भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने क्षत्रिय लोगों की परीक्षा लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया, उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था,उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थी जैनियों के पूज्य समझे जाते थे और बहुतकाल तक बराबर पूज्य बने रहे परन्तु पीछेसे जब वे स्वच्छंद होकर अपने धर्मकर्म में शिथिल होगये और जैनधर्मसे गिरगये,तब जैनियोंने आम तौरसे उनका पूजना और मानना छोड़दिया। परन्तु फिर भी इस ब्राह्मणवर्ण में बराबर जैनी

होतेही रहे। हमारे परमपूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी, अकलंकभट्ट और विद्यानंदी आदिक बहुतसे आचार्य ब्राह्मणही थे, जिन्होंने चहुंओर जैनधर्म का डंका बजाकर जगतके जीवोंका उपकार किया है। रहे वैश्य लोग सो वे भी जैसे इस वक्त जैनधर्म को पालन कररहे हैं, वैसे ही पहले पालन करते थे। ऐसी ही हालत शूद्रों की है, वेभी कभी जैनधर्म को धारण करने से नहीं चूके और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक तक होते रहे। इस वक्तभी जैनियों में शूद्र जैनी मौजूद हैं। बहुत से जैनी शूद्रोंका कर्म (पेशा) करते हैं और दक्षिणकी दो एक जातियां जिनमें कि विधवा विवाह होताहै सुनते हैं कि शूद्रोंही में परिगणित हैं और शूद्रही क्यों? हमारे पूर्वज तीर्थंकरो और ऋषियों मुनियोंने तो चांडालों, भीलों और म्लेच्छों तकको जैनधर्म का उपदेश देकर उनको जैनी बनाया है, और न केवल जैनधर्मका श्रद्धान उनके हृदयों में उत्पन्न किया है बल्कि श्रावक के व्रतभी उन से पालन कराये हैं जिनकी सैकड़ों कथाएं शास्त्रोंमें मौजूद हैं।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि, एक त्रिपद नामके धीवर (कहार) की लड़की को जिसका नाम पूतगंधा था और जिसके शरीर से दुर्गन्ध आतीथी श्रीसमाधिगुप्त मुनिने श्रावक के व्रत दिये और वह लड़की बहुत दिनोंतक आर्यिकाओं के साथ रही और अन्त में सन्यास धारण करके मरी तथा सोलहवें स्वर्ग में जाकर देवीहुई, फिर वहां से आकर श्रीकृष्णकी पटरानी रुक्मिणी हुई।

चम्पापुर नगर में अग्निभूत मुनिने अपने गुरु सूर्यमित्र मुनिराज की आज्ञासे एक चांडालकी लड़की को, जो जन्म से अंधी पैदाहुई

थी और जिसकी देहसे इतनी दुर्गंध आतीथी कि कोई उसके पास आना नहीं चाहता था और इसी कारण वह बहुत दुखी थी जैन-धर्मका उपदेश देकर श्रावक के व्रत धारण कराये थे, जिसकी कथा सुकमालचरित्रादिक शास्त्रोंमें मौजूद है । यही चांडालीका जीव दो जन्म लेनेके पश्चात् तीसरे जन्ममें सुकुमालजी हुआथा ।

पूर्णभद्र और मानभद्र नामके दो वैश्य भाइयोंने एक चांडाल को श्रावक के व्रतग्रहण कराये थे और उन व्रतों के कारण वह चांडाल मरकर सोलहवें स्वर्ग में बड़ी ऋद्धिका धारक देवहुआ था, जिसकी कथा पुण्यास्रव कथाकोश में लिखी है ।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि, गंधमादन पर्वतपर एक परवर्तक नाम के भीलको श्रीधर आदिक दो चारण मुनियों ने श्रावक के व्रतदिये । इसीप्रकार म्लेच्छोंके जैनधर्म धारण करने के सम्बन्ध मेंभी बहुत सी कथाएँ विद्यमान हैं, बल्कि जैनी चक्रवर्ती राजाओंने तो म्लेच्छों की कन्याओं से विवाह तक किया है ।

श्रीनेमिनाथ के चचा वसुदेवजीने भी एक म्लेच्छराजाकी पुत्रीसे जिसका नाम जरा था, विवाह किया था, और उसके जरत्कुमार उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्मका बड़ा भारी श्रद्धानी था और जिसने अन्त में जैनधर्म की मुनिदीक्षा धारण कीथी । यह कथाभी हरिवंशपुराणमें लिखीहै । औरइसी पुराणमें जहांपर श्रीमहावीरस्वामी के समवसरणका वर्णन है, वहांपर यहभी लिखा है कि समवसरण में जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर बहुत से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णके स्त्रीपुरुषोंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये । इतना ही क्यों ? उनकी पवित्र वाणीका यहांतक प्रभाव पड़ा कि, कुछ

जानवरोंने भी अपनी शक्तिके अनुसार श्रावक के व्रतधारण किये इससे भलीभांति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक जीव जैनधर्म को धारण कर सकता है। इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये।

यद्यपि ऊपरके प्रमाणोंसे प्रत्येक मनुष्य खुशीसे यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आजकलके जैनियोंकी खास मीरास नहीं है बल्कि मनुष्य क्या जीवमात्रको उसपर पूरा २ अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है। तौ भी मैं कुछ थोडेसे शास्त्रोंके प्रमाण और अपने भाइयोंके सन्मुख उपस्थित करता हूं, जिससे किसीको इस विषयमें कोई संदेह और भ्रम बाकी न रहे—

पूजासार के श्लोक नं. १६ में जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये हैं। एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको पूजक कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकों में प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप वर्णन किया है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र, चारों वर्णके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी बतलाया है। यथा—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यःसुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः॥ १७॥

इसी प्रकार श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वें अधिकारके श्लोक नं. १४२ में श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवाले उपर्युक्त दोनों भेदोंका वर्णन करके अगले श्लोकमें प्रथम भेद (पूजक) के स्वरूपकथनमें ब्राह्मणादिक चारों वर्णों के मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी वर्णन किया है। वह श्लोक यह है—

"ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४१ ॥"

और इसी ९ वे अधिकारके श्लोक नं. २२५ में ब्राह्मणोंके पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उसके अगले श्लोकमे "यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुन " इस वचनसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके पूजन करना पढ़ना, और दान देना, ऐसे तीन वर्णन किये हैं ।

इन दोनों शास्त्रोंके प्रमाणोंसे भलीभांति प्रकट है कि, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्णोंके मनुष्य जैनधर्मको धारण करके जैनी होसकते हैं । तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं ।

सागरधर्मामृत मे प आशाधरजीने लिखा है किः-

"शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्याहीनोऽपि कालादि लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥"
(अ० २ श्लो० २२)

अर्थात्-आसन और बर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हों, मांस और मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंकी सदृश श्रावक धर्मका पालन करनेके योग्य है । क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर श्रावकधर्मका अधिकारी होता है । ऐसा ही श्रीसोमदेव आचार्यने 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्यमें उपर्युक्त तीनों शुद्धियोंके होनेसे शूद्रोंको धर्मसाधनके योग्य बतलाया है ।

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसुयोग्यान्"

रत्नकरंडश्रावकाचारमें स्वामिसमन्तभद्राचार्य लिखते हैं किः—

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवादेवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

अर्थात्–जो चांडाल का भी पुत्र सम्यग्दर्शन सहित है, उसको श्रीगणधरादिक राखसे ढके हुए अंगारेके प्रकाशके समान देव कहते हैं। इससे चांडालका जैनी बन सकना भलीभांति प्रकट है। बल्कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो चौथे गुणस्थान में ही हो जाती है, चांडाल इससे भी ऊपर पांचवें गुणस्थान तक जा सकता है और श्रावकके व्रत धारण कर सकता है जैसा कि ऊपर उल्लेखकी हुई कथाओंसे प्रकट है।

धर्मसंग्रहश्रावकाचारके–नवें अधिकारमें निम्नलिखित दो श्लोकों द्वारा यह प्रकट किया है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, महाव्रत (मुनिपद) धारण कर सकते हैं और शूद्रोंके प्रमत्त आदि गुण-स्थानोंके न होनेके कारण वे अणुव्रत धारण कर सकते हैं अर्थात् पांचवें गुणस्थान तक जा सकते हैं।

त्रिवर्णेषु जायन्ते ये चोच्चैर्गोत्रपाकतः ।
देशावयवशुक्लानां तेषामेव महाव्रतम् ॥२५१॥
नीचैर्गोत्रोदयाच्छूद्रा भवन्ति प्राणिनो भवे ।
प्रमत्तादिगुणाभावात्तेषां स्यात्तदणुव्रतम् २५१॥

धर्मरसिकत्रैवर्णिकाचार में श्रीसोमसेनजी साफ़ लिखते हैं किः–

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मपराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमा ॥
(अ० ७ श्लो० १४२)

अर्थात्-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपनी अपनी क्रियाओंके भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं, परन्तु ये चारों ही वर्ण-जैनधर्मको धारण करनेके योग्य हैं। इस सम्बंधसे जैन-धर्मको पालन करते हुए ये सब आपसमें भाइके समान हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्धान्तकी अपेक्षा, प्रवृत्तिकी अपेक्षा, और शास्त्राधारकी अपेक्षा सब प्रकारसे यह बात, कि प्रत्येक मनुष्य जैनधर्मका धारण कर सकता है, कितनी स्पष्ट और साफ तौरपर सिद्ध है. इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर सकते हैं और मालूम कर सकते हैं कि वर्तमान जैनियोंकी यह कितनी भारी ग़लती और बेसमझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्मका मौरूसी हक़दार समझ बैठे हैं।

अफ़सोस ! जिनके पूज्य पुरुषों, तीर्थंकरों और ऋषिमुनियोंका तो इस धर्मके विषयमें यह ख्याल और यह कोशिश कि कोई जीव भी इस धर्मसे वञ्चित न रहे-यथासाध्य प्रत्येक जीवको इस धर्ममें लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये, उन्हीं जैनियों की आज यह हालत कि, वे कंजूस और कृपण की तरह जैनधर्म को छिपाते फिरते हैं। न आप इस धर्मरत्नसे कुछ लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको ही लाभ उठाने देते हैं। इससे मालूम होता है कि, आजकल के जैनी बहुत ही तंगदिल (संकीर्णहृदय) हैं और इसी तंगदिलीने उनपर संगदिली (पाषाणहृदयता) की घटा छारक्खी है खुदगर्जी (स्वार्थपरता) का उनके चारों तरफ राज्य है। यही

कारण है कि वे दूसरोंका उपकार करना नहीं चाहते हैं और न किसीको जैनधर्म का श्रद्धानी बनाने की कोई चेष्टा करते हैं। उन की तरफ से कोई डूबो या तिरो, उनको इससे कुछ प्रयोजन नहीं। अपने भाइयों की इस अवस्थाको देखकर मुझको बहुत दुःख होता है।

प्यारे जैनियो, आप उन वीर पुरुषोंकी सन्तान हो, जिन्होंने स्वार्थ बुद्धिको कभी अपने पासतक फटकने नहीं दिया, पौरुषहीनता और भीरताका कभी स्वप्नमें भी जिनको दर्शन नहीं हुआ, जिनके विचार बड़ेही विशुद्ध, गंभीर और जिनके हृदय विस्तीर्ण थे और जो संसार भरके सच्चे शुभचिन्तक और सब जीवोंका हितसाधन करने में ही अपने को कृतार्थ समझनेवाले थे। आप उन्हीं की वंश परम्परा में उत्पन्न हैं जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिबल और कायबल निरन्तर परोपकार में ही लगा रहता था धार्मिक जोश से जिनका मुखमण्डल (चेहरा) निरंतर दमकताथा जो अपनी आत्माके समानदूसरे जीवोंकी रक्षाकरतेथे औरइस संसारको असारसमझकर निरन्तर अपना और दूसरे जीवोंका कल्याण करनेमें ही लगे रहते थे, और ऐसे ही पूज्य पुरुषोंका आप अपने आपको अनुयायी और उपासक भी बतलाते हैं जो ज्ञान विज्ञानके पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभामें पशु पक्षी तक भी उपदेश सुनने के लिये आते थे, जिन्होंने जैनधर्म धारण कराकर करोड़ों जीवोंका उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलम्बियोंपर जैनियोंके अहिंसाधर्मकी छाप जमाईथी। इसलिये आपही तनिक विचार कीजिये कि, क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरोंका उपकार करनेसे इस प्रकार हाथ खींच लेना आपके लिये उचित और योग्य है? कदापि नहीं।

प्यारे भाइयो, हमको अपनी इस हालतपर बहुत ही लज्जित और शोकित होना चाहिये। हमारी इस लापरवाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैनजातिको बड़ा भारी धक्का लग रहा है। हमने अपने पूज्य पुरुषों ऋषिमुनियोंके नामको बट्टा लगा रक्खा है। यह सब हमारी स्वार्थपरता, निष्पौरुषता, संकीर्ण हृदयता और विपरीतबुद्धिका कारण है। इसका सारा कलंक हमारेही ऊपर है। वास्तवमें हम बड़ेभारी अपराधी हैं। जब हम अपनी आंखोंके सामने इस बातको देखरहे हैं कि अज्ञान से अन्धे प्राणी बिल्कुल बेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुवेंके सन्मुख जारहे हैं और उसमें गिररहे हैं और फिर भी हम मौनालम्बी हुए चुप चाप बैठे हैं–उन बेचारोंको उस कुएसे सूचित करते हैं, न कुएमें गिरने से बचाते हैं औरन कुएमें गिरे हुओं को निकालनेका प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक औरक्या अपराध हो सकता है? अब हमको इस कलंक और अपराध से मुक्त होनेके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये। सबसे प्रथम हमको अपने मेंसे इन स्वार्थपरताआदिक दोषोंको निकाल डालना चाहिये फिर उत्साहकी कटि बांधकर और परोपकारको ही अपना मुख्यधर्म संकल्प करके अपने पूज्य पुरुषों और ऋषिमुनियोंके मार्गका अनुसरण करना चाहिये और दूसरे जीवोंपर दयाकर उनको मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे निकालकर जिनवाणीके प्रकाशरूप जैनधर्मकी शरणमें लाना चाहिये। यही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्त्तव्यको पूरा करनेसे हम उपर्युक्त कलंकसे विमुक्त होसकते हैं और अपने मस्तकपर जो कालिमाका टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते हैं। हमको चाहिये कि, अपने इस कर्त्तव्यके पालन करने में अब कुछ भी विलम्ब न करें। क्योंकि इस वक्त कालकी गति जैनियोंके अनुकूल है। अब वह समय नहीं रहा कि,

जब अन्यायी और निठुर राजा वा बादशाहों के अन्यान्य और अत्याचारो के कारण जैनी अपनको जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म व शास्त्रोंका छिपाने के लिये बाध्य होते थे। अब वह समय आगया है कि, लोगो की प्रवृत्ति सत्यताकी खोज और निष्पक्ष-पाततकी ओर होती जाती है। इसलिये जैनियोंके लिये यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसरपर हमको अवश्य अपने धर्मरत्नका प्रकाश सर्व साधारणमें फैलाना चाहिये। सर्व मनुष्योंपर जैनधर्मके सिद्धान्त और उनका महत्त्व प्रकट करना चाहिये और उनको बत-लाना चाहिये कि, जैनधर्म ही क्यों जीवोंका कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुखकी प्राप्ति करा सकता है। इस समय हमारे भाइयोंकी केवल थोड़ीसी हिम्मत और परोपकारबुद्धिकी जरूरत है। बाकी यह खूबी खुद जैनधर्ममें मौजूद है कि, वह दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परन्तु दूसरोंको इस धर्मसे परिचय और जानकारी कराना मुख्य है और यह जैनियोंका कर्त्तव्य है। इसलिये प्यारे जैनियो, आप कुछ भी न घबरा कर इस धर्मरत्नको हाथमें लेकर चौड़े मैदानमें खड़े हो जाइये और जौहरियोंसे पुकार कर कहिये कि, वे आकर इस रत्नकी परीक्षा करें। फिर आप देखेंगे कि, कितने धर्म—जौहरी इस धर्मरत्नको देखकर मोहित होते हैं और इसपर अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्यमी होते हैं। अभी हालमें कुछ लोगोंके कानोंतक इस धर्मका शुभ समाचार पहुंचा ही था कि वे तुरन्त मन वचन कायसे इसके अनुयायी और भक्त बन गये हैं। इसलिये मेरा बार २ यही कहना है कि, कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्मसे वंचित न रक्खा जावे किसी न किसी प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यके कानों तक इस धर्मकी आवाज़ (पुकार) जरूर पहुंच जानी

चाहिये और इस बातका दिलमें कभी ख्याल भी नहीं लाना चाहिये कि अमुक मनुष्य इस धर्मके धारण करने के अयोग्य है या इस धर्मका पात्र नहीं है। क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्रका धर्म है। यदि कोई मनुष्य पूरी तौरपर इस धर्मका पालन नहीं कर सकता है, तथापि थोड़ा बहुत जरूर पालन कर सकता है। कमसे कम यदि उसका श्रद्धान भी ठीक हो जावेगा, तो उससे बहुत काम निकल जावेगा और वह फिर धीरे २ यथावत् आचरण करनेमें भी समर्थ हो जावेगा। दूसरे नीतिका यह वाक्य है कि, " अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः। ", अर्थात् कोई भी मनुष्य स्वभावसे अयोग्य नहीं है। परन्तु किसी मनुष्यको योग्यताकी ओर लगाना या किसीकी योग्यतासे काम लेना यही कठिन कार्य है, और इसीपर दूसरे मनुष्यकी योग्यताकी परीक्षा निर्भर है। इसलिये यदि हम किसी मनुष्यको जैनधर्म धारण न करावें या किसी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी न बना सकें, तो समझना चाहिये कि यह हमारी ही अयोग्यता है। इसमें उस मनुष्य का कोई दोष नहीं है और न इसमें जैनधर्महीका कोई अपराध हो सकता है। इसलिये इस अपक्व विचार और बालख्यालको बिल्कुल हृदयसे निकालकर फैंक देना चाहिये कि, अमुक मनुष्य को तो जैनधर्म बतलाया जावे और अमुकको नहीं। प्रत्येक मनुष्यको जैनधर्म बतलाना चाहिये और जैनधर्मका श्रद्धानी बनाना चाहिये। क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्रका धर्म है- किसी खास जाति या देशसे सम्बन्धित नहीं है।

यहांपर सब प्रकारके मनुष्योंको जैनधर्मका श्रद्धानी बनानेसे हमारे किसी भी भाईको यह समझकर भयभीत नहीं होना चाहिये कि, ऐसा होनेसे सबका खानापीना एक हो जावेगा। खानापीना

और बात है और धर्म दूसरी वस्तु है। हमारे जैनियोंकी वर्तमान चौरासी खांपें, जिनमें परस्पर रोटीबेटीका व्यवहार नहीं है, इस प्रश्नका यथेष्ट उत्तर दे रही हैं। इसके लिये हमको कोई नया मार्ग खोलनेकी आवश्यकता नहीं है। हमको उसी सनातन मार्गपर चलना होगा, जिसपर हमारें पूज्य पूर्वजों और आचार्योंने गमन किया है। हमारे लिये पहिलेहीसे सब प्रकारकी सुगमताका मार्ग खुला हुआ है। हमको किसी भी कार्यके लिये अधिक चिन्ता करने या कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये हमको बिलकुल निर्भय होकर साहस और धैर्यके साथ सब मनुष्योंमें जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले लोगोंका श्रद्धान ठीक करना चाहिये और उसके पश्चात् उनका आचरण सुधारना चाहिये। जैनी बननेके लिये इन्हीं दो बातोंकी विशेष आवश्यकता है।

बोलो जैन धर्म की जय।

समाप्तमिति।

पुस्तक मिलनेका पता—
प्यारेलाल जैन मन्त्री
श्रीकुरीतिनिवारिणी जैनसभा
धामपुर.

श्रीपरमात्मने नमः ।

पंडित सदासुखजीकृत भाषानुवादसहित

मृत्युमहोत्सव ।

जिसको

मालिक–जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालयने

मुम्बईके

निर्णयसागर छापखानेमें छपाकर

प्रसिद्ध किया ।

वीरनिर्वाण संवत् २४३४ । ईसवी सन १९०८ ।

प्रथमबार १००० प्रति.] ❀ [निछरावल ≈)॥

ॐ

नमः श्रीपरमात्मने ।

स्वर्गीय पंडित सदासुखजीकृत वचनिका सहित

मृत्युमहोत्सव ।

श्लोक ।

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधिबोधौ पाथेयं यावन्मुक्तिपुरी पुरः ॥

अर्थ—मृत्युके मार्गमैं प्रवर्त्यो जो मैं ताकूं भगवान वीतराग जो है सो समाधि कहिये स्वरूपकी सावधानी अर बोध कहिये रत्नत्रयका लाभ सोही जो पाथेय कहिये परलोकके मार्गमैं उपकारक वस्तु सो देहु जितनैकमैं मुक्ति पुरी प्रति जाय पहुंचूं या प्रार्थना करूं हूं। भावार्थ—मैं अनादिकालतैं अनंत कुमरण किये जिनकूं सर्वज्ञ वीतराग ही जानैं हैं एकबार हू सम्यक् मरण नहीं किया जो सम्यक्मरण करता तो फिर संसारमैं मरणका पात्र नहीं होता जातैं जहां देह मर जाय अर आत्माका सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र स्वभाव है सो विषय कषायनिकरि नहीं घात्या जाय सो सम्यक्मरण है अर मिथ्याश्रद्धानरूप हुवा देहका नाशकूं ही अपना

आत्माका नाश जानना संक्लेशतैं मरण करना सो कुमरण है सो मैं मिथ्यादर्शनका प्रभाव करि देहकूं ही आपा मानि अपना ज्ञानदर्शनस्वरूपका घात करि अनंत परिवर्तन किये सो अब भगवान वीतराग सों ऐसी प्रार्थना करूं हूं जो मेरे मरणके समयमैं वेदनामरण तथा आत्मज्ञानरहित मरण मत होहू क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग जन्ममरणरहित भये हैं तातैं मैं हू सर्वज्ञ वीतरागका शरणसहित संक्लेशरहित धर्मध्यानतैं मरण चाहता वीतरागहीका शरण ग्रहण करूं हूं ॥ १ ॥

अब मैं अपने आत्माकूं समझाऊं हूं,—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपञ्जरे ।
भज्यमानेन भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥

अर्थ—भो आत्मन् कृमिनिके सैकड़ां जालनिकरि भर्या अर नित्य जर्जरा होता यो देहरूप पींजरा इसकूं नष्ट होतैं तुम भय मत करो जातैं तुम तो ज्ञानशरीर हो । भावार्थ—तुमारा रूप तो ज्ञान है जिसमैं ये सकल पदार्थ उद्योतरूप हो रहे हैं अर अमूर्तीक ज्ञान ज्योतिःस्वरूप अखंड अविनाशी ज्ञाता द्रष्टा है अर यह हाड़ मांस चामड़ामय महादुर्गंध विनाशीक देह है सो तुमारा रूपतैं अत्यंत भिन्न है कर्मके वशतैं एक क्षेत्रमैं अवगाहन करि एकसे होय तिष्ठे है तो हू तुमारे इनकै

अत्यंत भेद है अर यो देह पृथ्वी जल अग्नि पवनके परमाणुनिका पिंड है सो अवसर पाय बिखर जायगा तुम अविनाशी अखंड ज्ञायकरूप होय इसके नाश होनेतैं भय कैसैं करो हो ॥२॥ अब और हू कहैं हैं—

ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिः ॥

अर्थ—भो ज्ञानिन्! कहिये हो ज्ञानी तुम को वीतरागी सम्यग्ज्ञानी उपदेश करैं हैं जो मृत्युरूप महान् उत्सवको प्राप्त होतैं काहेतैं भय करो हो यो देही कहिये आत्मा सो अपने स्वरूपमैं तिष्ठता अन्य देहमैं स्थितिरूप पुरकूं जाय है यामैं भयका हेतु कहा है ? भावार्थ—जैसैं कोऊ एक जीर्णकुटीमैंतैं निकसि अन्य नवीन महलकूं प्राप्त होय सो तो बड़ा उत्सवका अवसर है तैसैं यो आत्मा अपने स्वरूपमैं तिष्ठता ही इस जीर्ण देहरूप कुटीकूं छांड़ि नवीन देहरूप महलको प्राप्त होतैं महा उत्साहका अवसर है यामैं कुछ हानि नहीं जो भय करिये अर जो अपने ज्ञायकस्वभावमैं तिष्ठते परका अपणासकरि रहित परलोक जावोगे तो बड़ा आदरसहित दिव्य धातु उपधातुरहित वैक्रियक-देहमैं देव होय अनेक महर्द्धिकनिमैं पूज्य महान देव होवोगे अर जो यहां भयादिक करि अपना ज्ञानस्वभा-

वकूं बिगाड़ि परमैं ममता धारि मरोगे तो एकेन्द्रिया-दिकका देहमैं अपने ज्ञानका नाश करि जड़रूप होय तिष्ठोगे ऐसैं मलीन क्लेशसहित देहकूं त्यागि क्लेशरहित उज्वल देहमैं जाना तो बड़ा उत्सवका कारण है ॥ ३ ॥

सुदत्तं प्राप्यते यस्माद् दृश्यते
पूर्वसत्तमैः। भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं
मृत्युभीतिः कुतः सताम्॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वकालमैं भए गणधरादि सत्पुरुष ऐसैं दिखावैं हैं जो जिस मृत्युतैं भलेप्रकार दिया हुवाका फल पाइये अर स्वर्गलोकका सुख भोगिये तातैं सत्पुरुषकै मृत्युका भय काहेतैं होय । भावार्थ—अपना कर्त-व्यका फल तो मृत्यु भये ही पाइए है जो आप छहकायके जीवनिकूं अभयदान दिया अर रागद्वेष काम क्रोधादिकका घातकरि असत्य अन्याय कुशील परधन-हरणका त्यागकरि परमसंतोष धारणकरि अपने आत्माकूं अभयदान दिया ताका फल स्वर्गलोक विना कहां भोगनेमैं आवै सो स्वर्गलोकके सुख तो मृत्यु नाम मित्रके प्रसादतैं ही पाईए तातैं मृत्यु समान इस जीवका कोऊ उपकारक नहीं यहां मनुष्य पर्यायका जीर्ण देहमैं कौन २ दुःख भोगता कितने काल रहता आर्तध्यान रौद्रध्यानकरि तिर्यंच नरकमैं जाय पड़ता तातैं अब

मरणका भय अर देह कुटुंब परिग्रहका ममत्वकरि चिंतामणि कल्पवृक्ष समान समाधिमरणकूं बिगाड़ि भयसहित ममतावान हुवा कुमरणकरि दुर्गति जावना उचित नहीं ॥ ४ ॥ और हू विचारै है—

आगर्भाद्दुःखसंतप्तः प्राक्षिप्तो देहपञ्जरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना॥

अर्थ—यो हमारो कर्म नाम बैरी मेरा आत्माकूं देहरूप पींजरेमैं क्षेप्या सो गर्भमैं आया तिस क्षणमैं सदाकाल क्षुधा तृषा रोग वियोग इत्यादि अनेक दुःखनिकरि तप्तायमान हुवा पड्या हूं अब ऐसे अनेक दुःखनिकरि व्याप्त इस देहरूप पींजरातैं मोकूं मृत्यु नाम राजा विना कोन छुड़ावै। भावार्थ—इस देहरूप पींजरेमैं कर्मरूप शत्रुकरि पटक्या मैं इंद्रियनिके आधीन हुवा नाना त्रास सहूं हूं नित्य ही क्षुधा अर तृषाकी वेदना त्रास देवे है अर सासती स्वास उच्छ्वासकी पवनका खेंचना अर काढ़ना अर नानाप्रकारके रोगनिका भोगना अर उदर भरनै वास्तै नाना पराधीनता अर सेवा कृषि वाणिज्यादिकनिकरि महा क्लेशित होय रहना अर शीत उष्ण दुष्टनि करि ताड़न मारन कुवचन अपमान सहना कुटुंबके आधीन होना धनकै राजाकै स्त्री पुत्रादिककै आधीन रहना ऐसा महान् बंदीगृह

समान देहमैंतैं मरण नाम बलवान राजा बिना कौन निकासै इस देहकूं कहां ताईं बहता जाकूं नित्य उठावना बैठावना भोजन करावना जलपावना स्नान करावना निद्रा लिवावना कामादिक विषयसाधन करावना नानाप्रकारके वस्त्र आभरणादिकरि भूषित करना रात्रि दिन इस देहहीका दासपना करता हूं आत्माकूं नाना त्रास देवै है भयभीत करै है आपा भुलावै है ऐसा कृतघ्न देहतैं निकसना मृत्यु नाम राजा बिना नहीं होय जो ज्ञानसहित देहसों ममता छांड़ि साव- धानीतैं धर्मध्यानसहित संक्लेशरहित वीतरागतापूर्वक जो समाधिमृत्यु नाम राजाका सहाय ग्रहण करूं तो फेरि मेरा आत्मा देह धारण ही नहीं करै दुःखनिका पात्र नहीं होय समाधिमरण नामा बड़ा न्यायमार्गी राजा है मोकूं याहीका शरण होहु मेरे अपमृत्युका नाश होहु ॥ ५ ॥ और हू कहैं हैं—

सर्वदुःखप्रदं पिण्डं दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यन्ते सुखसम्पदः ॥

अर्थ—आत्मदर्शी जे आत्मज्ञानी हैं ते मृत्युनाम मित्रका प्रसादकरि सर्व दुःखका देनेवाला देहपिंडकूं दूर छांड़करि सुखकी संपदाकूं प्राप्त होय हैं। भावार्थ— जो इस सप्तधातुमय महा अशुचि विनाशीक देहकूं

छांड़ि दिव्य वैक्रियक देहमैं प्राप्त होय नाना सुख संपदाकूं प्राप्त होय है सो समस्त प्रभाव आत्मज्ञानी-निकै समाधिमरणका है समाधिमरण समान इस जीवका उपकार करनेवाला कोऊ नहीं है इस देहमैं नाना दुःख भोगना अर महानरोगादि दुःख भोगि करि मरना फिर तिर्यंच देहमैं तथा नरकमैं असंख्यात अनं-तकालतांई असंख्यात दुःख भोगना अर जन्ममरणरूप अनंत परिवर्तन करना तहां कोऊ शरण नहीं इस संसार परिभ्रमणसों रक्षा करनेकूं कोऊ समर्थ नहीं है कदाचित् अशुभकर्मका मंद उदयतैं मनुष्यगति उच्चकुल इंद्रियपूर्णता सत्पुरुषनिका संगम भगवान् जिनेन्द्रका परमागमका उपदेश पाया है अब जो श्रद्धान ज्ञान त्याग संयमसहित समस्त कुटुंब परिग्रहमैं ममत्वरहित देहतैं भिन्न ज्ञानस्वभावरूप आत्माका अनुभवकरि भय-रहित च्यार आराधनाका शरण सहित मरण हो जाय तो इस समान त्रैलोक्यमैं तीन कालमैं इस जीवका हित है नहीं जो संसार परिभ्रमणतैं छूट जाना सो समाधिमरण नाम मित्रका प्रसाद है ॥ ६ ॥

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो
न साधितः । निमग्नो जन्मज-
म्बाले स पश्चात् किं करिष्यति ॥ ७ ॥

अर्थ,—जो जीव मृत्यु नाम कल्पवृक्षकूं प्राप्त होतैं हू अपना कल्याण नहीं सिद्ध किया सो जीव संसाररूप कर्दममैं डूबा हुवा पाछैं कहा करसी। भावार्थ,—इस मनुष्य जन्ममैं मरणका संयोग है सो साक्षात् कल्पवृक्ष है जो वांछित लेना है सो लेहु जो ज्ञानसहित अपना निजस्वभाव ग्रहणकरि आराधनासहित मरण करो तो स्वर्गका महर्द्धिकपणा तथा इंद्रपणा अहमिंद्रपणा पाय पाछैं तीर्थंकर तथा चक्रीपणा होय निर्वाण पावो। मरणसमान त्रैलोक्यमैं दाता नहीं ऐसे दाताकूं पायकरि भी जो विषयकी वांछाकषायसहित ही रहोगे तो विषयवांछाका फल तो नरक निगोद है मरण नाम कल्पवृक्षकूं बिगाड़ोगे तो ज्ञानादि अक्षयनिधानरहित भए संसाररूप कर्दममैं डूब जावोगे अर भो भव्य हो जो थे वांछाका मार्‌या हुवा खोटे नीच पुरुषनिका सेवन करो हो अतिलोभी भए विषयनिके भोगनेकूं धन वास्तै हिंसा झूंठ चोरी कुशील परिग्रहमैं आसक्त भये निंद्यकर्म करो हो अर वांछित पूर्ण हू नहीं होय अर दुःखके मारे मरण करो हो कुटंबादिकनिकूं छांड़ि विदेशमैं परिभ्रमण करो हो निंद्य आचरण करो हो अर निंद्यकर्म करिकै हू अवश्य मरण करो हो अर जो एकबार हू समता धारणकरि त्यागव्रतसहित मरण करो

तो फेरि संसारपरिभ्रमणका अभावकरि अविनाशीसुखकूं प्राप्त हो जावो तातैं ज्ञानसहित पंडितमरण करना ही उचित है ॥ ७ ॥

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥

अर्थ,—जिस मृत्युतैं जीर्ण देहादिक सर्व छूटि नवीन हो जाय सो मृत्यु सत्पुरुषनिकै साताका उदयकी ज्यों हर्षके अर्थि नहीं होय कहा? ज्ञानीनिकै तो मृत्यु हर्षके अर्थि ही है। भावार्थ,—यो मनुष्यनिको शरीर नित्य ही समय समय जीर्ण होय है देवनिका देह ज्यों जरारहित नहीं है दिन दिन बल घटै है कांति अर रूप मलीन होय है स्पर्श कठोर होय है समस्त नसानिके हाड़निके बंधान शिथिल होय हैं चाम ढीली होय मांसादिकनिकूं छांड़ि ज्वरलीरूप होय है नेत्रनिकी उज्वलता बिगड़ै है कर्णनिमैं श्रवण करनेकी शक्ति घटै है हस्तपादादिकनिमैं असमर्थता दिन दिन बधै है गमनशक्ति मंद होय है चालते बैठते उठते स्वास बधै है कफकी अधिकता होय है रोग अनेक बधैं हैं ऐसी जीर्ण देहका दुःख कहां तक भोगता अर ऐसैं देहका घींसणा कहां तक होता मरण नाम दातार विना ऐसे निंद्यदेहकूं छुड़ाय नवीन देहमैं वास कौन करावै जीर्ण

देह है तिसमैं बड़ा असाताका उदय भोगिये है सो मरण नाम उपकारी दाता विना ऐसी असाताकूं दूर कौन करै अर जे सम्यग्ज्ञानी हैं तिनकै तो मृत्यु होनेका बड़ा हर्ष है जो अब संयम व्रत त्याग शीलमैं सावधान होय ऐसा यत्न करै जो फेरि ऐसे दुःखका भर्या देहको धारण नहीं होय सम्यग्ज्ञानी तो याहीकूं महा साताका उदय मानै है ॥ ८ ॥

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत् ।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥

अर्थ,—यो आत्मा देहमैं तिष्ठतो हू सुखकूं तथा दुःखकूं सदा काल जानै ही है अर परलोकप्रति हू स्वयं गमन करै है तो परमार्थतैं मृत्युका भय कौनकै होय। भावार्थ,—जो अज्ञानी बहिरात्मा है सो तो देहमैं तिष्ठता हू मैं सुखी मैं दुखी मैं मरूं हूं मैं क्षुधावान मैं तृषावान मेरा नाश हुवा ऐसा मानै है अर अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी ऐसैं मानै है जो उपज्या है सो मरैगा पृथ्वीजलअग्निपवनमय पुद्गलपरमाणुनिके पिंडरूप उपज्यो यो देह है सो विनशैगो मैं ज्ञानमय अमूर्तीक आत्मा मेरा नाश कदाचित् नहीं होय ये क्षुधातृषावातपित्तकफादिरोगमय वेदना पुद्गलकै है मैं इनका ज्ञाता हूं मैं यामैं अहंकार वृथा करूं हूं इस शरीरकै अर मेरे

एक क्षेत्रमैं तिष्ठनेरूप अवगाह है तथापि मेरा रूप ज्ञाता है अर शरीर जड़ है मैं अमूर्तीक, देह मूर्तीक, मैं अखंड एक हूं, शरीर अनेक परमाणुनिका पिंड है, मैं अविनाशी हूं, देह विनाशीक है अब इस देहमैं जो रोग तथा तृषादि उपजै तिसका ज्ञाता ही रहना मेरा तो ज्ञायक स्वभाव है परमैं ममत्व करना सो ही अज्ञान है मिथ्यात्व है अर जैसैं एक मकानकूं छांड़ि अन्य मकानमैं प्रवेश करै तैसैं मेरे शुभ अशुभ भावनिकरि उपजाया कर्मकरि रच्या अन्य देहमैं मेरा जाना है इसमैं मेरा स्वरूपका नाश नहीं अब निश्चयकरि विचारतैं मरणका भय कौनकै होय ॥ ९ ॥

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणां ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनां ॥

अर्थ,—संसारमैं जिनका चित्त आसक्त है अपना रूपकूं जे जानै नहीं तिनके मृत्यु होना भयके अर्थि है अर जे निजस्वरूपके ज्ञाता हैं अर संसारतैं विरागी हैं तिनकै तो मृत्यु है सो हर्षके आर्थि ही है। भावार्थ,—मिथ्यादर्शनके उदयतैं जे आत्मज्ञानकरिरहित देहहीकूं आपा माननेवाले अर खावना पीवना कामभोगादिक इंद्रियनिके विषयनिकूं ही सुख माननेवाले बहिरात्मा हैं तिनकै तो अपना मरण होना बड़ा भयके अर्थि है

जो हाय मेरा नाश भया फेरि खावना पीवना कहा हू नहीं है नहीं जानिये मरे पीछैं कहा होयगा कैसैं मरूंगा अब यह देखना मिलना कुटंबका समागम सब मेरे गया अब कौनका शरण ग्रहण करूं कैसैं जीऊं ऐसे महा संक्लेशकरि मरैं हैं अर जे आत्मज्ञानी हैं तिनकैं मृत्यु आये ऐसा विचार उपजै है जो मैं देहरूप बंदीगृहमैं पराधीन पड़्या हुवा इंद्रियनिके विषयनिकी चाहनाकी दाह करि अर मिले विषयनिकी अतृप्तिताकरि अर नित्य ही क्षुधा तृषा शीत उष्ण रोगनिकरि उपजी महा वेदना तिनकरि एक क्षण हू थिरता नहीं पाई महान दुःख पराधीनता अपमान घोर वेदना अनिष्टसंयोग इष्टवियोग भोगता महा संक्लेशतैं काल व्यतीत किया अब ऐसैं क्लेश छुड़ाय पराधीनतारहित मेरा अनंतसुखस्वरूप जन्ममरणरहित अविनाशी स्थानकूं प्राप्त करनेवाला यह मरणका अवसर पाया है यो मरण महासुखको देनेवालो अत्यंत उपकारक है अर यो संसारवास केवल दुःखरूप है यामैं एक समाधिमरण ही शरण है और कहूं ठिकाना नहीं है इस विना च्यारों गतिनिमैं महा त्रास भोगी है अब संसारवासतैं अति विरक्त मैं समाधिमरणका शरण ग्रहण करूं ॥१०॥

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन प्रपञ्चैः पाञ्चभौतिकैः ॥

अर्थ,—जिस कालमैं यो आत्मा अपना कियाका भोगनेकी इच्छाकरि परलोककूं जाय है तदि पंचभूत-संबंधी देहादिक प्रपंचनिकरि याकूं कौन रोकै। भावार्थ,—इस जीवका वर्तमान आयु पूर्ण हो जाय अर जो अन्य परलोकसंबंधी आयुकायादिक उदय आ जाय तदि परलोककूं गमन करते आत्माकूं शरीरादिक पंचभूत कोऊ रोकनैकूं समर्थ नहीं हैं तातैं बहुत उत्साहसहित चार आराधनाका शरण ग्रहणकरि मरण करना श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

मृत्युकाले सतां दुःखं यद्भवेद्व्याधिसंभवं।
देहमोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च ॥

अर्थ,—मृत्युका अवसरविषै जो पूर्वकर्मका उदयतैं रोगादिक व्याधिकरि दुःख उत्पन्न होय है सो सत्पुरुषनिकै देहकेविषै मोहका नाशकेअर्थि है अर निर्वाणका सुखके अर्थि है। भावार्थ,—यो जीव जन्म लीयो जिस दिनतैं देहसों तन्मय हुवा यामैं बसै है अर यामैं बसनेकूं ही बड़ा सुख मानै है या देहकूं अपना निवास जानै है यासूं ममता लग रही है यामैं बसने सिवाय अपना कहूं ठिकाना नहीं देखै है अब ऐसा देहमैं जो रोगादिककरि दुःख उपजै है जब सत्पुरुषनिकै यासूं मोह नष्ट हो जाय है अर साक्षात दुःखदाई अथिर

विनाशीक दीखै है अर देहका कृतघ्नपणा प्रकट दीखै है तदि अविनाशी पदके अर्थि उद्यमी होय है वीतरागता प्रगट होय है तदि ऐसा विचार उपजै है जो इस देहकी ममताकरि मैं अनंतकाल जन्ममरण नाना वियोग रोग संतापादिक नरकादिक गतिनिमैं दुःख भोगे अब भी ऐसे दुःखदाई देहमैं ही फेरि हू ममत्त्व करि आपाकूं भूलि एकेंद्रियादि अनेक कुयोनिमैं भ्रमणका कारण कर्म उपार्जन करनेकूं ममता करूं हूं जो अब इस शरीरमैं ज्वर कास श्वास शूल वात पित्त अतीसार मंदाग्नि इत्यादिक रोग उपजैं हैं सो इस देहमैं ममत्वघटावनेके अर्थि बड़ा उपकार करैं हैं धर्ममैं सावधानता करावैं हैं जो रोगादिक नहीं उपजता तो मेरी ममता हू देहतैं नहीं घटती अर मद हू नहीं घटता मैं तो मोहकी अंधेरी करि आंधा हुवा आत्माकूं अजर अमर मान रह्या था सो अब यो रोगनिकी उत्पत्ति मोकूं चेत कराया अब इस देहकूं अशरण जानि ज्ञान दर्शन चारित्र तपहीकूं एक निश्चय शरण जानि आराधनाका धारक भगवान परमेष्ठीकूं चित्तमैं धारण करूं हूं अब इस अवसरमैं हमारै एक जिनेंद्रका वचनरूप अमृत ही परम औषधि होहू जिनेंद्रका वचनामृत विना विषय कषायरूप रोगजनित दाहके मेटनेकूं कोऊ समर्थ

नहीं बाह्य औषधादिक तो असाता कर्मके मंद होते किंचित् काल कोऊ एक रोगकूं उपशम करै अर यो देह अनेक रोगनिकरि भर्या हुवा है अर कदाचित् एक रोग मिट्या तो हू अन्य रोगजनित घोर वेदना भोगि फेर हू मरण करना ही पड़ैगा तातैं जन्मजराम-रणरूप रोगकूं हरनेवाला भगवानका उपदेशरूप अमृत-हीका पान करूं अर औषधादि हजारां उपाय करते हू विनाशीक देहमैं रोग नहीं मिटैगा तातैं रोगतैं आर्ति उपजाय कुगतिका कारण दुर्ध्यान करना उचित नाहीं रोग आवते हू बड़ा हर्ष ही मानो जो रोगहीके प्रभावतैं ऐसा जीर्ण गल्या हुवा देहतैं मेरा छूटना होयगा रोग नहीं आवै तो पूर्वकृत कर्म नहीं निर्जरै अर देहरूप महा दुर्गंध दुःखदाई बंदीगृहतैं मेरा शीघ्र छूटना हू नहीं होय है अर यो रोगरूप मित्रको सहाय ज्यों ज्यों देहमैं वधै है त्यों त्यों मेरा रागबंधनतैं अर कर्मबंधनतैं अर शरीरबंधनतैं छूटना शीघ्र होय है अर यो रोग तो देहमैं है इस देहकूं नष्ट करैगा मैं तो अमूर्तीक चैतन्यस्वभाव अविनाशी हूं ज्ञाता हूं अर जो यो रोगजनित दुःख मेरे जाननेमैं आवै है सो मैं तो जाननेवाला ही हूं याकी लार मेरा नाश नहीं है जैसैं लोहकी संगतितैं अग्नि हू घणनिका घात सहै है तैसैं

शरीरकी संगतितैं वेदनाका जानना मेरे हू है अग्नितैं झूंपड़ी बलै है झूंपड़ीके माहिं आकाश नहीं बलै है तैसैं अविनाशी अमूर्तिक चैतन्य धातुमय आत्मा ताका रोगरूप अग्निकरि नाश नहीं है अर अपना उपजाया कर्म आपकूं भोगना ही पड़ैगा कायर होय भोगूंगा तो कर्म नहीं छाड़ैगा अर धैर्य धारणकरि भोगूंगा तो कर्म नहीं छाड़ैगा तातैं दोऊं लोकका बिगाड़नेवाला कायरपनाकूं धिक्कार होहू कर्मका नाश करनेवाला धैर्य ही धारण करना श्रेष्ठ है अर हे आत्मन् तुम रोग आए एते कायर होते हो सो विचार करो नरकनिमैं यो जीव कौन कौन त्रास भोगी असंख्यात बार अनंत बार मारे बिदारे चीरे फाड़े गये हो इहां तो तुमारै कहा दुःख है अर तिर्यंच गतिके घोर दुःख भगवान ज्ञानी हू वचनद्वारकरि कहनेकूं समर्थ नहीं अर मैं तिर्यंच पर्यायमैं पूर्वें अनंतवार अग्निमैं बलि बलि मरथा हूं अर अनंतबार जलमैं डूबि डूबि मरथा हूं अनंतबार विष भक्षण कर मरथा हूं अनंतबार सिंह व्याघ्र सर्पादिकनिकरि बिदारथा गया हूं शस्त्रनिकरि छेद्या गया हूं अनंतबार शीतवेदनाकरि मरथा हूं अनंतवार उष्णवेदनाकरि मरथा हूं अनंत बार क्षुधाकी वेदनाकरि मरथा हूं अनंतबार तृषाकी वेदनाकरि मरथा हूं अब यह

रोगजनित वेदना केतीक है रोग ही मेरा उपकार करै है रोग नहीं उपजता तो देहतैं मेरा स्नेह नहीं घटता अर समस्ततैं छूटि परमात्माका शरण नहीं ग्रहण करता तातैं इस अवसरमैं जो रोग है सोहू मेरा आराधनामरणमैं प्रेरणा करनेवाला मित्र है ऐसैं विचारता ज्ञानी रोग आये क्लेश नहीं करै है मोहके नाश करनेका उत्सव ही मानै है ॥ १२ ॥

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्। आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा १३

अर्थ,—यद्यपि इस लोकमैं मृत्यु है सो जगतके आतापका करनेवाला है तो हू सम्यग्ज्ञानीकै अमृतसंग जो निर्वाण ताके अर्थि है जैसैं काचा घड़ाकूं अग्निमैं पकावना है सो अमृतरूप जलके धारणके अर्थि है जो काचा घड़ा अग्निमैं नहीं पकै तो घड़ामैं जल धारण नहीं होय है। अग्निमैं एक वार पकि जाय तो बहुत काल जलका संसर्गकूं प्राप्त होय तैसैं मृत्युका अवसरमैं आताप समभावनिकरि एक वार सहि जाय तो निर्वाणका पात्र हो जाय। भावार्थ,—अज्ञानीकै मृत्युका नामतैं भी परिणाममैं आताप उपजै है जो मैं अब चाल्या अब कैसैं जीऊं कहा करूं कौन रक्षा करै ऐसे

संतापको प्राप्त होय है क्योंकि अज्ञानी तो बहिरात्मा है देहादिक बाह्य वस्तुकूं ही आत्मा मानै है अर ज्ञानी जो सम्यग्दृष्टी है सो ऐसा मानै है जो आयु कर्मादिकका निमित्ततैं देहका धारण है सो अपनी स्थिति पूर्ण भये अवश्य विनशैगा मैं आत्मा अविनाशी ज्ञानस्वभाव हूं जीर्ण देह छांड़ि नवीनमैं प्रवेश करते मेरा कुछ विनाश नहीं है ॥ १३ ॥

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडंबनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना॥

अर्थ,—यहां सत्पुरुष हैं ते व्रतनिका बड़ा खेदकरि जिस फलकूं प्राप्त होइये है सो फल मृत्युका अवसरमैं थोरे काल शुभध्यानरूप समाधिमरणकरि सुखतैं साधने योग्य होय है। भावार्थ,—जो स्वर्गमैं इंद्रादिक पद वा परंपराय निर्वाणपद पंच महाव्रतादिक वा घोर तपश्चरणादिककरि सिद्ध करिये है सो पद मृत्युका अवसरमैं जो देह कुटंबादिसूं ममता छांड़ि भयरहित हुवा वीतरागतासहित च्यारि आराधनाका शरण ग्रहण करि कायरता छांड़ि अपना ज्ञायक स्वभावकूं अवलंबनकरि मरण करै तो सहज सिद्ध होय तथा स्वर्गलोकमैं महर्द्धिक देव होय तहांतैं आय बड़ा कुलमैं उपजि उत्तम संहननादि सामग्री पाय दीक्षा धारण करि अपने रत्नत्रयकी पूर्णताकूं प्राप्त होय निर्वाण जाय है ॥ १४॥

अनार्तः शांतिमान्मर्त्यो न तिर्यग्
नापि नारकः । धर्मध्यानी
पुरो मर्त्योऽनशनीत्वमरेश्वरः ॥

अर्थ,—जाकै मरणका अवसरमैं आर्त्त जो दुःखरूप परिणाम नहीं होय अर शांतिमान कहिये रागरहित द्वेषरहित समभावरूप चित्त होय सो पुरुष तिर्यंच नहीं होय नारकी नहीं होय अर जो धर्मध्यानसहित अनशनव्रत धारण करकैं मरै सो तो स्वर्गलोकमैं इंद्र होय तथा महर्द्धिक देव होय अन्य पर्याय नहीं पावै ऐसा नियम है। भावार्थ,—यो उत्तम मरणको अवसर पाय करिकैं आराधनासहित मरणमैं यत्न करो अर मरण आवतैं भयभीत होय परिग्रहमैं ममत्व धारि आर्त्त परिणामनिसों मरणकरि कुगतिमैं मत जावो यो अवसर अनंतभवनिमैं नहीं मिलैगो अर मरण छांड़गा नहीं तातैं सावधान होय धर्मध्यानसहित धैर्य धारणकरि देहका त्याग करो ॥ १५ ॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥

अर्थ,—तपका संताप भोगनेका अर व्रतनिके पालनेका अर श्रुतके पढ़नेका फल तो समाधि जो अपने आत्माकी सावधानीसहित मरण करना है। भावार्थ,—

हे आत्मन् जो तुम इतने काल इंद्रियनिके विषय-निमैं वांछारहित होय अनशनादि तप किया है सो अनंतकालमैं आहारादिकनिका त्यागसहित संयमसहित देहकी ममतारहित समाधिमरणके अर्थि किया है अर जो अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य परिग्रहत्यागादि व्रत धारण किये हैं सो हू समस्त देहादिक परिग्रहमैं ममताका त्याग करि समस्त मनवचनकायतैं आरंभादिक त्यागकरि समस्त शत्रु मित्रनिमैं वैर राग छांड़करि उपसर्गमैं धीरता धारणकरि अपना एक ज्ञायकस्वभावको अवलंवनकरि समाधिमरण करनेके अर्थि किये हैं अर जो समस्त श्रुतज्ञानका पठन किया है सो हू संक्लेशरहित धर्मध्यानसहित होय देहादिकनितैं भिन्न आपकूं जानि भयरहित समाधिमरणके निमित्त ही विद्याका आराधनकरि काल व्यतीत किया है अर मरणका अवसरमैं हू ममता भय राग द्वेष कायरता दीनता नहीं छांड़ोगे तो इतने काल तप कीने व्रत पाले श्रुतका अध्ययन किया सो समस्त निरर्थक होंयगे तातैं इस मरणके अवसरमैं कदाचित्सावधानी मत बिगाड़ो ॥१६॥

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्री-
तिरिति हि जनवादः। चिरतरशरी-
रनाशे नवतरलाभे च किं भीरुः ॥१७॥

अर्थ,—लोकनिका ऐसा कहना है जो जिस वस्तुका अतिपरिचय अतिसेवन हो जाय तिसमैं अवज्ञा अनादर होजाय है रुचि घटि जाय है अर नवीनका संगममैं प्रीति होय है यह बात प्रसिद्ध है अर हे जीव तू इस शरीरको चिरकालसे सेवन किया अब याका नाश होतें अर नवीन शरीरका लाभ होतें भय कैसैं करो हो भय करना उचित नहीं। भावार्थ,—जिस शरीरकूं बहुत काल भोगि जीर्ण कर दीना साररहित बलरहित हो गया अर नवीन उज्वल देह धारण करनेका अवसर आया अब भय कैसैं करो हो यो जीर्ण देह तो विनसैहीगो इसमैं ममता धारि मरण बिगाड़ि दुर्गतिका कारण कर्मबंध मत करो ॥ १७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

स्वर्गादेत्य पवित्रनिर्मलकुले संस्मर्यमाणा जनैर्दत्त्वा भक्तिविधायिनां बहुविधं वाञ्छानुरूपं धनं।
भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले पात्रावेशविसर्जनामिव मृतिं सन्तो लभन्ते स्वतः ॥ १८ ॥

अर्थ,—ऐसैं जो भयरहित होय समाधिमरणमैं उत्साहसहित चार आराधनानिकूं आराधि मरण करै है ताकै स्वर्गलोक विना अन्य गति नहीं होय है स्वर्ग निमैं महर्द्धिक देव ही होय है ऐसा निश्चय है बहुरि स्वर्गमैं आयुका अंतपर्यंत महासुख भोगि करिकैं इस मनुष्यलोकविषै पुण्यरूप निर्मल कुलमैं अनेक लोकनिकरि चिंतवन करते करते जन्म लेय अपने सेवकजन तथा कुटुंब परिवार मित्रादि जननिकूं नानाप्रकारके वांछित धन भोगादिरूप फल देय अर पुण्यकरि उपजे भोगनिकूं निरंतर भोगि आयु प्रमाण थोड़े काल पृथ्वीमंडलमैं संयमादिसहित वीतरागरूप भये तिष्ठ करकैं जैसैं नृत्यके अखाड़ेमें नृत्य करनेवाला पुरुष लोकनिकै आनंद उपजाय निकल जाय है तैसैं वह सत्पुरुष सकल लोकनिकै आनंद उपजाय स्वयमेव देह त्यागि निर्वाणकूं प्राप्त होय है ॥ १८ ॥

दोहा।

मृत्युमहोत्सव वचनिका, लिखी सदा सुखकाम।
शुभआराधन मरण करि, पाऊं निज सुखधाम ॥ १ ॥
उगणीसै ठारा शुकल, पंचमि मास अषाढ़।
पूरण लिखि बांचो सदा, मन धरि सम्यक गाढ़ ॥ २ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

आत्मशुद्धिः ।

अर्थात्

शील, भावना, ध्यान, तत्त्व और
रत्नत्रय का संक्षिप्त वर्णन ।
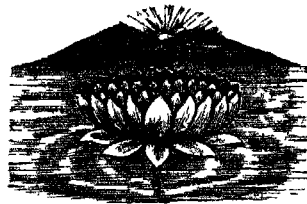
मुन्शीलाल एम्. ए. ।

आत्मशुद्धिः ।

मुन्शीलाल एम० ए० द्वारा लिखित
और प्रकाशित ।

बम्बई के निर्णयसागर प्रेस मे रामचंद्र येसू शेडगे के
प्रबंध से छपी ।

द्वितीय बार
१००० } नवंबर सन् १९१४ ई० { मूल्य ≡)॥

Published by Lala Munshilal M. A., Gvernment Pensioner
Kali Mata's Lane, Gumthi Bazar, Lahore

Printed by Ramchandra Yesu Shedge "Nirnaya- sagar"
Press, 23 Kolbhat Lane, Bombay.

सूचीपत्र।

श्रीवीतरागाय नमः ।

शील का प्रभाव ।

किसी देश की उन्नति इस पर निर्भर नही है कि उस की आय अधिक हो सीमा दृढ हो वा गृह सुन्दर हो, वरञ्च उस की उन्नति इस पर आश्रित है कि वहा के रहनेवाले लोग सभ्य सुशील और सुशिक्षित हों ।

संसार में शील एक बहुत बड़ी प्रेरकशक्ति समझी जाती है क्योंकि यह मनुष्य मे उत्तम गुण प्रगट करके उसे उत्तमता का आदर्श बना देती है । स्वभावतः जो लोग उत्तम नियमों पर चलनेवाले है, वे परिश्रमी सरल और निष्कपट होते है और इतर जन उनके कहने पर चलते है । प्रकृति यही चाहती है कि ऐसे मनुष्यों पर भरोसा करना और उन के अनुसार चलना चाहिये । संसार मे सकल गुण और भलाइया इन्हीं के कारण विद्यमान है और जब तक ऐसे महात्मा और साधुजन इस संसार में न हों तब तक यह संसार रहने के योग्य हो ही नही सक्ता ।

यद्यपि धीशक्ति वा बुद्धिमत्ता श्लाघनीय है तथापि सुशीलता सम्माननीय है । बुद्धिमत्ता मस्तिष्क से और सुशीलता हृदय से सम्बन्ध रखती है । सच पूछो तो हृदयशक्ति ही इस जीवन में

सर्वत्र प्रबल है। प्रत्येक समाज में ... ष का आदर उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण और सुशील ... सम्मान उस के शुद्ध अन्तःकरण वा सज्ञान के कार ... न्तु भेद यह है कि बुद्धिमान् पुरुष की केवल ... होती है और सुशील पुरुष के आचरण को सब ... ग्रहण करना चाहते है।

बुद्धि—चमत्कार, धन और राज्य के विचार से जो लोग उच्च पदवी पर पहुचे है वे साधारण मनुष्यजाति से अलग है और पदवी एक दूसरे की अपेक्षा ही से उच्च कहला सक्ती है। मा[illegible] जीवन का क्रम प्रत्येक दशामे ऐसा परिमित रक्खा गया है बहुत थोड़े लोगो को इस उच्च पदवी तक पहुंचने का अ[illegible] मिलता है परन्तु प्रत्येक पुरुष आदरसत्कारपूर्वक अपना जीव[illegible] रीति से व्यतीत कर सक्ता है। छोटे २ कामों मे भी मनु[illegible] लता विशुद्धता न्याय और श्रद्धालुता का बर्ताव कर सक्ता है अपनी २ दशामें उसके अनुसार कृत्य करता रहता है।

प्रत्येक काम का प्रारम्भ ठीक २ और भले प्रकार होना चाहिये, अर्थात् पहले सोच समझकर उस काम के करने के प्रकार, उपाय और फल जान लेने चाहिये और फिर तन मन धन से उस काम को करना चाहिये, क्योंकि जो काम पहले ही से सोच समझकर किया जाता है उसी मे सिद्धि प्राप्त हो सक्ती है। जो मनुष्य अपने विचारों के तत्त्व और महत्त्व पर ध्यान करता है और बुरे भावों को दूर करके अच्छे भाव वा विचार मन में भरता रहता है, अन्तमे वह यह जान लेगा कि जो फल वह भोगता है उस के विचार ही उन फलो के प्रारम्भ है और विचार ही उसके जीवनकी प्रत्येक घटना में बड़ा प्रभाव डालते है और इसी कारण शुद्ध और

उत्तम विचारो से शान्ति और सुख प्राप्त होता है और अशुद्ध और अधम विचारों से घबराहट और दुःख मिलता है।

यह भी जान लो कि छोटे २ कामो और कृत्यों के करने में विषाद और हर्ष विद्यमान है। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि कृत्य में ही विषाद वा हर्ष उत्पन्न करने की कोई शक्ति है। उस त्य के विषय मन की जो भावना होती है उस भावना मे यह क्ति है और जिम प्रकार कोई कृत्य किया जाता है उसी पर त्येक वस्तु का आश्रय है। देखो छोटे २ कामों को निष्कामता, बुद्धिमत्ता और पूर्णतासे करने से परम आनन्द वा हर्ष ही नही प्राप्त होता वरञ्च एक बडी शक्ति वा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन छोटी २ बातो से ही मिलकर बना है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि जीवन के सारे काम जो नित्यप्रति होते रहते है सोच विचार कर किये जाए और जब किसी वस्तु के भाग पूरे २ बनाए जाएंगे तो वह सम्पूर्ण वस्तु भी अतिसुन्दर और निर्दोष होगी।

इस बात का ध्यान रक्खो कि प्रतिक्षण तुम दृढता शुद्धता और किसी विशेष उद्देश्य से काम करो; प्रत्येक कर्म और कृत्य मे एकाग्रता और निःस्वार्थ से काम लो, अपने प्रत्येक विचार, वचन और कर्म में मीठे और सच्चे बनो, इस प्रकार अनुभव और अभ्यास द्वारा अपने जीवन की छोटी २ बातों को उत्तम समझने से तुम धीरे २ चिरस्थायी श्रेय और परम सुख और शील के गुण प्राप्त कर लोगे।

श्रीवीतरागाय नमः ।

बारह भावनाओंका संक्षेप ।

ज्ञानार्णव ।

' ज्ञानार्णव ' एक जैन ग्रन्थ है । इस का अर्थ ज्ञान का समुद्र है । इस के बनानेवाले श्रीशुभचन्द्राचार्य है । प्रथम के ४९ श्लोको मे मङ्गलाचरण, सज्जनों की प्रशसा और दुर्जनो की निन्दा, पिछले बडे कवियो और अन्य ग्रन्थ रचिताओ की अपेक्षा अपनी लघुता, अपने इस ग्रन्थ के रचने का प्रयोजन वर्णन करके सामान्यतः आत्मा की शुद्धि का उपाय बताया है । अर्थात् प्रत्येक पुरुष को चाहिये कि, दिनरात और आयु पर्य्यन्त इस संसार के झगडों में न फंसा रहे वरञ्च परमात्मा का ध्यान करके अपने मन और हृदय को शुद्ध करे, काम क्रोध लोभ मोह और अहंकार की अति से बचे, छल धोखा हिसा आदि को छोड़ दे धार्मिक और पवित्र जीवन व्यतीत करे और इस प्रकार परम आनन्द लाभ करे । इस के आगे १२ भावनाओं का वर्णन है [१] अनित्य भावना [२] अशरण भावना [३] ससार भावना [४] एकत्व भावना [५] अन्यत्व भावना [६] अशुचित्व भावना [७] आस्रव भावना [८] सम्वर भावना [९] निर्जरा भावना [१०] धर्म भावना [११] लोक भावना [१२] बोधिदुर्लभ भावना ।

अब हम इन भावनाओं का वर्णन यथाक्रम संक्षेप रीति से लिखते हैः—

अनित्य भावना का वर्णन करने से पहले यह बताया गया है कि इस संसार को कष्ट और दुःखों से भरा हुआ देख कर इस में अधिक लिप्त नहीं रहना चाहिए। जहां तक हो सके **समता भाव** [अर्थात् दु.ख और सुख में शान्ति ग्रहण करना वा प्रत्येक अवस्था में धीर और शान्त रहना और सब को एक दृष्टि से देखना] और **निर्ममता** भाव [अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से प्रीति न करना वा उन से विरक्त रहना] ग्रहण करने चाहिये और अपने हृदय को शुद्ध और पवित्र रखना चाहिये, जैसे भर्तृहरि जी निम्न-लिखित श्लोको में समता और निर्ममता बताते है·—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा,
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा,
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥
मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः,
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

इस मन की शुद्धि और पवित्रता के लिए १२ भावनाओंका भली भाति समझना और उन पर चलना अवश्य है। इन में से पहली भावना अनित्य भावना हैः—

---

१ अनित्य भावना ।

इस ससार में जितने पदार्थ है सब में तीन गुण है अर्थात् उत्पन्न होना नाश होना और उपस्थित रहना । इन तीनों गुणों का नाम जिनमत में 'उत्पादव्ययध्रौव्यत्व' है । जैसे सोने का कड़ा है । उसको तोडकर कुडल बनाया । ऐसा करने से कड़े का नाश हुआ, कुंडलका उत्पाद हुआ और सोना दोनो अवस्थाओं में ध्रुव रहा अर्थात् उपस्थित रहा । साराश यह है कि ये पदार्थ वा द्रव्य अपने २ रूप मे तो सदा स्थिर वा नित्य है परन्तु इनकी दशाये सदा बदलती रहती है और इसी लिए अनित्य है । यथा शरीर पीडा और दु:खों का भण्डार है, यौवन का परिणाम बुढापा है, सुन्दर आकृति कुरूप आकृति मे बदल जाती है, धन दौलत नाश को प्राप्त हो जाती है और इस जीवन का अन्त मृत्यु है ।

सकल सासारिक वस्तुओं को विचार कर देखने से यह प्रतीत होता है कि किसी वस्तु को भी स्थिरता नही है । यथा आज प्रात काल जिस घर मे मगल गायन हो रहा था और धूमधाम से बाजे बज रहे थे, वहीं सायंकाल को रोना पीटना हो रहा है और हाय ! हाय ' का शब्द निकल रहा है, जिस देश मे कल एक मनुष्य को राजतिलक दिया गया था, आज हम उसी मनुष्य के शव को चिता मे रखकर फूक रहे है । अत एव जो लोग बुद्धिमान् है वे इस संसार के अनित्यत्व को भले प्रकार समझ कर इस में लीन नही होते है, और अपने नित्य अर्थात् अविनाशी आत्माका कल्याण करने में तत्पर रहते है, गृहवासको एक अचिर-स्थायी और विनाशी पथिकाश्रम की नाई समझ कर निरन्तर

शुभ कर्म्म करते है अर्थात् ऐसे कार्य्य करते है जिनका करना योग्य है। ये शुभ कर्म्म भी किसी विशेष सांसारिक अभिप्राय वा फल की प्राप्ति के लिए नहीं करते केवल अपना कृत्य समझ कर करते है। धन्य है वे पुरुष जो परोपकार के लिए अपना तन मन धन सब कुछ अर्पण कर देते है और जहातक बनता है, इन सासारिक वस्तुओं को छोड कर अपने आत्माका ध्यान करते है और परमात्मा मे लीन होकर केवलज्ञान और परम आनन्द को प्राप्त करते है।

---

२ अशरण भावना।

इस का यह तात्पर्य है कि मृत्यु काल या यम सब से अधिक बलवान् है, इस काल ने किसी को नही छोडा। बडे २ शूरवीर, पराक्रमी राजा, महाराजा, इन्द्रादिक देव और शलाका पुरुष अर्थात् तीर्थङ्कर, ऋपि मुनि आदि सब एक २ करके इस के भेट हो गए। लाख यत्न करने पर भी यह मौत देवताओ से न टली, फिर मनुष्य की तो इस के आगे क्या सामर्थ्य है। इस कारण तीनों लोको में कोई भी ऐसा नही दीखता जो हमे इस कठोर मौत के पजे से छुडाए। यह मौत प्रत्येक दशा में उपस्थित है। बच्चा हो जवान या बूढा, धनी हो या दरिद्री, शूरमा हो या डरपोक, सब इस के आगे बराबर है, यह किसीको नही छोडती। इस लिए इस के कोप से बचकर कहा जा सक्ते है और किस की शरण ले सक्ते है? हमें इस जगत् मे केवल दो ही वस्तुओ का आश्रय है एक शुद्ध आत्माका और दूसरा पंच महापरमेष्ठि का। अर्थात् हमें चाहिये कि हम अपने मन

को सांसारिक धंधों में न फंसावें, अपने आत्मा की ओर ध्यान लगाए और अपनी प्रकृति को अर्हत् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु महात्माओं की ओर प्रवृत्त करें, इसलिए कि हमारे आचरण शुद्ध हो जाएं और हम परमात्मा में मग्न होकर उत्तम भावों के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर ले।

तुम्हे चाहिये कि अपने मन के भीतर विचार करो अर्थात् मन में खोजो संसार के कोलाहल और झगडों से अपनी आखे मूंद लो और भीतर की आखें खोल लो, अपने आत्मारूपी समुद्र की ढूंघी गहराइयों मे पहुंचकर उस की थाह वा तल मे डुबकी लगाओ, और इस प्रकार अपने भीतर विचार करने से तुम्हे वह परम सुख और सच्चा आनन्द प्राप्त होगा जो इस ससार के क्षणभङ्गुर आनन्द से करोडों गुणा बढकर है। यह तुम्हारा आनन्द इतना उत्तम होगा जितना कि सूर्य का प्रकाश दीपक की मध्यम लौ या चमक से अत्यन्त उत्कृष्ट है। देखो भर्तृहरिजीने अपने वैराग्यशतक में क्या ही सुन्दर कहा है—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला,
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोला यौवनलालना तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतम्,
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥

जिसका हिन्दी भाषा मे यह अर्थ है,—विषय भोग विलास बादलरूपी चंदोए के मध्य में चमकती हुई बिजली की नाई चञ्चल हैं; आयुः पवन से बिखरे हुए बादलों की पक्ति में संचित जल के समान नाशवान् है; और प्राणियों की यौवन अवस्था का आनन्द

भी अचिरस्थायी है (जवानी दिन चार की); इन सब बातों पर विचार करके हे बुद्धिमान् पुरुषो ! शीघ्र ही योग में अभ्यास करो अर्थात् आत्मा में लीन होकर परमात्मा में प्रवृत्त हो जाओ, जिस में हम धैर्य और एकाग्रचित्त के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सक्ते हैं।

---

३ संसार भावना।

मनुष्य दुःखरूपी भवसागर मे निरन्तर भ्रमते रहते है, अपने २ कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के शरीरो में जन्म लेते और मरते है, कभी पूर्वके शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग भोगते हैं फिर कुछ काल के अनन्तर नरक में गिर पडते है, फलतः इसी प्रकार भिन्न २ योनियों मे पडकर भिन्न २ दशाएं बदलते रहते है। यह ससार असार है और वस्तुत. अज्ञान और मूर्खता से इस को संसार मान रक्खा है, झूठी ममता बना रक्खी है, किसी से राग है और किसी से द्वेष। इस राग और द्वेष से कर्म बंधते है और कर्म बंधने से चारों गति अर्थात् देव मनुष्य नरक और पशु लोक मे भ्रमना पड़ता है और अनेक प्रकार के दु.ख और कष्ट सहने पडते है।

बुद्धिमान् वे ही है, जो इस ससार में लिप्त नही होते विरक्त रहते है और निष्काम कर्म करते है। निम्नलिखित श्लोक में भर्तृहरिजी ने भी इसी भाव को कहा है,—

भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गचपलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखं प्रीतिः प्रियेष्वस्थिरा।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्॥

इसका अर्थ यह है,—जैसे ऊची २ लहरे उठती है और झटपट नष्ट हो जाती है इसी प्रकार भोग विलास भी चञ्चल है, प्राण क्षणमात्र मे नष्ट हो जाते है, यह जोबन भी दिन चार का है, प्यारों मे प्रीति भी चिरकाल तक नही रहती, यह सारा ससार ही असार और तुच्छ है। ये सब बाते जानकर हे ज्ञानी पुरुषो! चेत करो और ऐसा यत्न करो जिस से तुम अपने मनसे लोगों की भलाई की बाते सोचो और उन को उपकार पहुचाने मे सदा उद्यत रहो।

---

४ एकत्व भावना।

सचमुच अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा एक ही है और ससार मे जो अनेक अवस्थाए होती है वे सब कर्मो के अनुमार है। परन्तु इन सब अवस्थाओ मे भी आत्मा अकेला ही है, वही जन्मता है वही मरता है, दूसरा उस के साथ मे न मरता है न जन्मता है, शरीर यही का यही रह जाता है। अर्थात् आत्मा अकेला ही शरीर मे आता है और अकेला ही उसे छोड़कर चला जाता है, उस का दूसरा संगी कोई नही, वही अकेला सुख भोगता है या दुःख सहता है। मनुष्य अपने कुनबे के लिए झूठ सच बोल कर धन इकट्ठा करता है और इतर अनेक प्रकार के काम करता है, उस धन के भोगने मे कुनबे के लोग संगी हो जाते है पर इन कर्मों का फल उस मनुष्य को आप ही भोगना पड़ता है। जब देही का देह के साथ या आत्मा का शरीर के साथ भी सम्बन्ध नही है, तो दूसरों के साथ कहा हो सक्ता है? इस कारण

यह निश्चय जान लो कि आत्मा अकेला है, उस का कोई साथी नही है उससे सब भिन्न है। इस लिये अपने से जो पर हैं, उन सब से सम्बन्ध छोडकर केवल आत्मा मे भी अनुरक्त होना चाहिये। भर्तृहरिजीने अपने वैराग्यशतक में क्या ही अच्छी इच्छा प्रगट की है·—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥

इसका अर्थ यह है—हे परमात्मा! मै कब अकेला होकर इस ससार से रहित होऊगा, सकल इच्छाओं को त्याग करके कब पूर्ण शान्ति प्राप्त करूंगा, और कब ऐसा होगा कि मेरे हाथ मेरे पात्र और ये चारों दिशाये मेरे वस्त्रो का काम देंगी और मै कर्मों का नाश कब कर सकूगा। अर्थात् मेरी प्रार्थना यह है कि मै सकल वस्तु पात्रवस्त्रादिक का त्याग करके कर्मों का नाश कर दूं और केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाऊं।

५ अन्यत्व भावना।

आत्मा और शरीर में धरती आकाश का अन्तर है। आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। आत्मा शुद्ध है और सच्चिदानन्द स्वरूप है। आत्मा और शरीरका सम्बन्ध सोने और खोट की नाई अनादि-काल से चला आया है। जब आत्मा इस भेद को विदित कर लेता है और अपने आप को सब से अलग और न्यारा जानने लगता है, तब वह शुद्ध हो जाता है और कर्मरहित होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मानों उस समय खोट दूर हो जाता है और खरा

सोना निकल आता है। इस कारण मनुष्य को उचित है कि अपनी प्रवृत्ति को बाह्य वस्तुओं से हटाकर आत्मा के स्वरूप का चिंतवन करने में तत्पर होवे।

---

६ अशुचित्व भावना।

यह शरीर मलमूत्र का झरना है, लहू, मास और चर्बी से बना हुआ है और हड्डियों का एक पजर है। कौन नही जानता कि इस के भीतर कितने अगिनत जानवर और कीड़े आदि भरे हुए है। इसे अनेक प्रकार के रोग बहुधा सताते रहते है और बुढापा और मृत्यु इस का परिणाम है। यदि इस के ऊपर खाल नही होती, तो मक्खिया मच्छर और कव्वे आदिक प्रतिक्षण इसे सताते रहते और तनिक भी सास नही लेने देते। इस लिए इस शरीर से प्रीति नहीं करनी चाहिये और आत्मस्वरूप मे लीन होना चाहिये। इस से ही सारे ऐश्वर्य्य और सब प्रकार के सुख मिल सक्ते है जैसा कि भर्तृहरिजी अपने वैराग्यशतक में लिखते है—

> तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
> तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।
> यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य-
> भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति॥

---

७ आस्रव भावना।

आस्रवशब्दका अर्थ है, कर्मोंका स्रवन होना, आगमन होना।

आस्रव भावना में यह चिंतवन करना चाहिये कि, आत्मामें कर्म किस तरहसे आते है–आत्मा कर्मों को किस तरह ग्रहण करता है।

मन वचन और काय (शरीर) की क्रिया को योग कहते हैं, और इस योग को ही आस्रव माना है। अर्थात् कर्मों का जितना आगमन होता है वह सब मन वचन काय की क्रिया द्वारा होता है। ये योग अथवा मन वचन काय की क्रियाये दो प्रकार की होती हैं. एक शुभरूप और दूसरी अशुभरूप। सत्य बोलना चोरी नही करना, किसी जीव को नही सताना, ब्रह्मचर्य पालना, परिग्रह नही रखना, इन पाच व्रतोसे, ससारसे विरक्त रहने से, शान्त परिणामोंसे, तत्व विचार करने से, सबसे मित्रत्व रखने से, मध्यस्थभाव रखनेसे, करुणालु रहने से, तथा ऐसे और भी अनेक शुभ भावोसे शुभ आस्रव होता है, और इन के विपरीत झूठ बोलने, चोरी करने, गाली देने, दूसरों को सताने, क्रोध मान माया लो-भमें अनुरक्त रहने आदि अशुभ भावों से अशुभ आस्रव होता है। जैसे जहाज छिद्रों के द्वारा जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह जीव शुभ और अशुभ योगरूप छिद्रों से, मन वचन और काय द्वारा, शुभ, और अशुभ कर्मों को ग्रहण करता है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह आत्मा शुद्ध केवलज्ञानरूप है और आस्रव से रहित है, परन्तु अनादि कर्म के सम्बन्ध से यह मिथ्यात्व मे फंसा है और मन वचन और काय से अपने में नये कर्मों का आस्रव करता है। जब यह आत्मा इन शुभ अशुभ कर्मों का बाधना छोड़ देता है और केवल अपने स्वरूप का ध्यान

करता है, उस समय कर्म आस्रव से रहित हो जाता है। यही आस्रव भावना का सार है।

८ संवर भावना।

सम्पूर्ण आस्रवों के निरोध को सवर कहते है। अर्थात् जिन २ द्वारों से कर्मों का आस्रव होता है, उनको रोक देनेसे नवीन कर्म नहीं बँधते है। यही सवर है। जहाज मे जिन २ छिद्रो से पानी आता है, उनको बन्द कर देनेसे जैसे नया पानी आना बन्द हो जाता है उसी प्रकारसे आस्रव के द्वारो को रोक देनेसे सवर होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आना रुक जाता है।

सवर के दो भेद है.— १ द्रव्यसवर और २ रा भावसंवर। कर्मरूपी पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण न करना, रोक देना, यह तो द्रव्यसंवर है और जिन क्रियाओं के करने से कर्म ग्रहण होता है उन क्रियाओंका ही अभाव करना यह भावसवर है। भावसंवर कारण है और द्रव्यसवर कार्य है।

जिन कारणों से कर्म बॅधते हैं, उन कारणो का दूर करना और रोकना उचित है। क्रोध के रोकने के लिये क्षमा का होना अवश्य है। मान या अभिमान के लिये मार्दव अर्थात् मृदुता, माया के लिये आर्जव अर्थात् ऋजुता—सरलता, लोभ के लिये संगसन्यास, रागद्वेष के लिये समताभाव या निर्मलताभाव, मिथ्यात्व के लिये सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे देव गुरु और शास्त्रों में श्रद्धान, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये हृदयमें ज्ञान का प्रकाश और असंयमरूपी विष का प्रभाव नष्ट करने के लिये सत्संयमरूपी अमृत अवश्य है जो मनुष्य बुद्धि-

मान् है और सोच विचार की शक्ति रखता है, उस के शुद्ध और विचारवान् हृदय में पाप का भाव स्वप्न में भी नहीं आसक्ता और बुराई उस के पास को फटक ही नहीं सकती ।

वस्तुत· सम्वररूपी एक बडा भारी वृक्ष है, जिस में से प्रत्येक प्रकार के दोष सर्वथा जाते रहे है । (१) पाच समिति अर्थात् चलने फिरने, बोलने चालने, खाने पीने, वस्तुओं के लेने देने या उनके उठाने रखने, और मलमूत्र के करने में सावधानी से काम लेना ये पाचों समितिया मिलकर इस वृक्ष की जड है । (२) सयम अर्थात् सामायिक आदि उस का स्कन्ध है । (३) प्रशम अर्थात् विशुद्ध भावरूप उस की बडी २ शाखाए है (४) उत्तम क्षमादि दश धर्म उस के पुष्प है (इन दश धर्मों का वर्णन धर्म भावना में किया है) । और (५) बारह प्रकार की भावनाएं उस के सुन्दर फल है ।

९ निर्जरा भावना ।

अनादि बीजरूप कर्मों के झड जाने को अर्थात् कर्मों के नष्ट हो जाने को निर्जरा कहते है । जहाज मे भरा हुआ पानी जिस प्रकार उलीचकर निकाल दिया जाता है अथवा स्वयं निकल जाता है, इसी प्रकारसे आत्माके साथ सम्बन्धित हुए कर्म परमाणु समय पाकर स्वय झड जाते है अथवा झडा दिये जाते है । यही निर्जरा है । निर्जरा दो प्रकार की है, एक सकाम निर्जरा और दूसरी अकाम निर्जरा । पहली अर्थात् सकाम निर्जरा ऋषि मुनियो के होती है और दूसरी अर्थात् अकाम निर्जरा प्रत्येक संसारी जीवके होती है ।

सकाम निर्जरा से यह तात्पर्य है कि ऋषि मुनि अपनी इच्छा से तपके द्वारा पहले ही कर्मों का नाश कर देते है अर्थात् जो कर्म उनके साथ बंधे हुए है और जिनका आविर्भाव या उदय कुछ काल पीछे होना है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र सहित तप करने से उन कर्मों का पहले ही नाश कर देते है। और अकाम निर्जरा से यह अभिप्रेत है कि कर्मों की अवधि पूरी होने पर अपने २ समय पर आप उन कर्मों का नाश हो जाता है। इन का उदाहरण वृक्षों के फलों के समान है। एक तो यह कि हम फलो को पाल आदि मे दबाकर पका लेते है दूसरे यह कि फल वृक्ष पर पककर आप ही आप झड जाते है—

तप दो प्रकार के है—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप (देखो धर्म भावना)।

नोट—सातवी आठवी और नवमी भावनाओं का सक्षिप्त भावार्थ—आस्रव भावना में योगोंके द्वारा कर्मों का आगमन होता रहता है, सम्वर भावना मे हम क्षमा धृति आदि गुणों को धारण करके अपने में नए कर्म नही बाधते—खोटे कर्मों को रोक देते हैं और निर्जरा भावना मे पूर्ण तप करके और इन्द्रियों को सर्वथा दमन करके पिछले बुरे कर्मो का भी नाश कर सक्ते है।

---

१० धर्म भावना।

धर्म की महिमा और उसके गुण।

धर्मरूपी कल्पवृक्ष ऐसा है कि दया इस का मूल है और

सारे संसार का इस से उद्धार होता है। धर्म के दश गुण है जो आगे वर्णन किये जाएंगे और जो मनुष्य इस धर्म के किसी एक गुण का भी पूरा २ पालन करते है उनका कल्याण हो जाता है।

जिसने धर्म को प्राप्त कर लिया उसे सब कुछ मिल गया। उसे मानों चिन्तामणि वा कामधेनु वा कल्पवृक्ष मिल गया, वा ये तीनों वस्तुएं मिल गई, जिन से उसकी सारी मनोकामनाए पूरी हो सक्ती है और वह नौ निधि और बारह सिद्धियोंवाला हो चुका, अर्थात् ये सारी वस्तुएं और सम्पूर्ण ऋद्धि सिद्धि धर्म्म के आगे तुच्छ है और ये सब धर्म की किङ्कर वा सेवक है।

दुःख वा कष्ट के समय धर्म ही सहायक होता है और धर्म ही सुख का देनेवाला है। धर्मात्मा पुरुष को सब कुछ प्राप्त है और बडे २ राजा महाराजा और इन्द्रादिक देव इस के आगे सिर झुकाते है और नमते है।

धर्म ही गुरु, धर्म ही मित्र, धर्म ही स्वामी, धर्म ही बन्धु, धर्म ही दीनों का नाथ और हितकारी है। धर्म ही निगोद स्थान और पाताल में गिरने से बचाता है और धर्म ही कल्याण और मोक्ष का दाता है। वस्तुत. धर्म मे अनन्त शक्ति है और उस की शक्ति का ठीक २ वर्णन नही हो सक्ता।

धर्म में निम्नलिखित दश गुण अनुगत है:—

(१) क्षमा—यदि कोई मनुष्य हम में दोष निकाले और क्रोध करे और बुरा भला कहे तो प्रथम यह सोचना चाहिये कि ये दोष हम में उपस्थित है वा नही। यदि हम में ये दोष पाए जाते

हैं, तो उस का क्रोध करना उचित है और हमें उसे क्षमा ही नहीं करना चाहिये वरञ्च उसका कृतज्ञ होना चाहिये। और यदि ये दोष हम में नहीं है तब भी यह समझना चाहिये कि वह मनुष्य वृथा क्रोध करता है और अज्ञानता से क्रोधवश होता है इस कारण भी वह मनुष्य क्षमा के योग्य है। एक उर्दू भाषा के कवि ने सच कहा है:—

तू भला है तो बुरा हो नहीं सक्ता ऐ जौक,
है बुरा वह ही कि जो तुझको बुरा जानता है।
और अगर तूही बुरा है तो वह सच कहता है,
क्यों बुरा कहने से उसके तू बुरा मानता है॥

उपरान्त इसके क्रोध के दोष और क्षमा के गुणों पर भी विचार करके क्षमा ही करनी चाहिये। और फिर तुलसीदासजी के नीचे लिखे लेख पर भी विचार करके क्षमा हीका करना योग्य है।

कौन काहु को दुखसुखदाता।
निजकृत कर्मभोग सब भ्राता॥

(२) मार्दव-अर्थात् मृदुता और नम्रता। सबके साथ कोमलता और मृदुभाव से बर्त्तना और अपनी जाति, कुल, सौन्दर्य, धन, विद्या, ज्ञान, लाभ और शूरवीरता पर किसी प्रकार का अभिमान न करना।

(३) आर्जव वा सरलता—हृदय में किसी प्रकार का कपट न रखना और विचार वचन और कार्य में ऋजुभाव और विशुद्धता का स्वीकार करना।

(४) शौच—लोभ का न होना। अर्थात् मन वचन और कार्य

करके अर्थ—शुचित्व और संतोष का ग्रहण करना यहां तक कि धर्म की सामग्री में भी लोभ और ममत्व का न होना।

(५) सत्य—सच बोलना वा ऐसा वचन कहना जो सज्जनों को हितकारी हो। कदापि झूठ न बोलना, कठोर तथा असत्य वचन न कहना, चुगली न खाना, दूसरों को दुख देनेवाली बात नहीं कहना, व्यर्थ बकवाद नहीं करना, किसी की हंसी नहीं करना, इत्यादिक सब बाते सत्य में अनुगत है। सारी अवस्थाओं में सच ही बोलो और मिथ्या भाषण कदापि न करो। क्योंकि सत्य ही संसार का सहायक है और सत्य ही धर्म का मूल है।

(६) संयम—अपनी इन्द्रयों को वशमें करना। चलने, फिरने बैठने में किसी प्रकारका जीवघात न हो जाय। एक तिनके का भी घात नही होवे ऐसे परिणाम रखना।

(७) तप—दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर।

(क) बाह्यतप—व्रत वा उपवास रखना, थोड़ा खाना, अमुक अन्न अमुक प्रकार से मिलेगा, तो भोजन करेंगे, ऐसी मर्यादा करके रागभाव रहित होकर भोजन करना, जिन से विकार उत्पन्न न हो ऐसे रूखे फीके भोजन करना, ऐसे एकान्त स्थान में सोना बैठना जहा रागभाव के उत्पन्न करनेवाले कोई कारण न हों, और कायक्लेश।

(ख) आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त अर्थात् चरित्र के पालन में जो दूषण हुए हैं उन को गुरु के आगे सच्चे मन से प्रकाश करना और दिए हुए दण्ड का संतोष से सहना विनय वा नम्रता, शुश्रूषा

वा सेवा, स्वाध्याय अर्थात् पढ़ना पढ़ाना विचारना आदि, व्युत्सर्ग अर्थात् शरीर में ममता नही रखके, कठिन रोगों में भी उनके प्रतीकार का उपाय न करके आत्मचिंता करते हुए कायोत्सर्ग करना, और ध्यान वा एकाग्र चित्तवृत्ति।

(८) त्याग—सर्वप्रकार की उपाधियों और शरीर सम्बन्धी और खानपान सम्बन्धी दोषों का छोडना, तथा, विद्या, भोजन, औषध और अभय इन चार प्रकारके दानों का देना।

(९) आकिंचन्य—परिग्रह से अर्थात् सब प्रकार की सासारिक सामग्रियो से ममत्व घटाना वा उनका त्याग करना।

(१०) ब्रह्मचर्य—ज्ञान वृद्धि के लिये गुरुके कुलमे रहना, सर्वथा उसकी आज्ञा मानना, और विषय भोगादिक सर्व प्रकार के सुस्वादु भोजन आभूषण और शृङ्गारादिक का छोड़ना।

---

११ लोकभावना।

इस लोक को ऐसा जानना चाहिये कि यह तीन वलयों के मध्य मे स्थित है, पवनो से घिरा हुआ है, अनेक प्रकार की वस्तुओं से भरा हुआ और अनादि सिद्ध है। फलतः यह लोक भिन्न २ जीवादिक द्रव्यों या पदार्थों की रचना है और इन पदार्थों के अपने २ गुण या स्वभाव है। इन सब में आप एक आत्मद्रव्य है। इस आत्मा का ठीक २ स्वरूप जानकर और इतर पदार्थों से ममता छोड़ कर आत्मा पर ही विचार करना सर्वोत्तम बात और परमार्थ है। इस के उपरान्त सारे द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये, जिस से मिथ्या श्रद्धान दूर हो जाए।

---

१२ बोधिदुर्लभ भावना।

सच पूछो तो पराधीन वस्तु का मिलना दुर्लभ है और स्वाधीन वस्तु का प्राप्त होना सुगम है। यह बोधि वा ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन प्रकार का रत्नसमूह आत्मा का स्वभाव वा गुण है और इन तीनो का प्राप्त करना अपने वश मे है। इस लिए जब मनुष्य अपनी वास्तविक दशा को प्रतीत करे, तब वे तीनो वस्तु उसके अपने पास है और इस लिए इन का प्राप्त करना कठिन नही है। परन्तु जब तक आत्मा अपनी वास्तविक दशा को नही जानता, तब तक वह कर्मों के आधीन है। इस कारण अपना बोधि गुण प्रतीत करना कठिन है और अन्य सारे पदार्थ जो कर्मों के आधीन है, उन का जानना सुगम है।

इस का भावार्थ यह है कि प्रथम मनुष्य योनि में जन्म लेना ही दुर्लभ है, फिर इस जन्म मे यथार्थ ज्ञान अर्थात् बोधिका प्राप्त करना तो बहुत ही कठिन है। इस लिये जब यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जावे तो फिर इसे प्रमाद वा भूल से छोड़ना नही चाहिये। इससे आत्मा का सच्चा कल्याण करना चाहिये।

आत्मध्यान और मोक्ष।

पहले हम बारह भावनाओंका संक्षिप्त वर्णन कर चुके है। जो पुरुष इन बारह भावनाओंका अपने मनमें सदा चिन्तवन और मनन करते रहते है, वे संसारकी नाशवान् वस्तुओं में अनुरक्त

नहीं रहते। धीरे २ उनका अज्ञान दूर होता जाता है और उनके हृदय में ज्ञानका प्रकाश होता रहता है। वे अपने द्वारा अपनेमें अपने अनंतज्ञान सौख्यादि शक्तियों के धारक शुद्धात्माका ध्यान करते हैं और अन्तमें कर्मों का नाश करके मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्त कर लेते है। ऐसे पुरुष जबतक ससार में रहते हैं, तबतक अभय, मनकी शुद्धि, ज्ञानकी प्राप्ति, इन्द्रियदमन, क्षमा, धृति आदि निम्नलिखित गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं और दैवी सम्पत्ति भोगने के अधिकारी होते है। यथा,—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्ययस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(भगवद्गीता)

श्रीशुभचन्द्राचार्य ने योगीको मोक्षपद पानेके लिये ध्यान की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि,—

प्रथम तो जीवों को मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है। और यदि किसी जीवने मनुष्यजन्म प्राप्त भी कर लिया, तो उसे आत्मज्ञान प्राप्त करके अपना जन्म सुफल करना चाहिये। प्रत्येक पुरुषको पुरुषार्थ करना योग्य है। पुरुषार्थ में चार बातें अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अनुगत है। परमज्ञानी और योगी पुरुष

इन चारों में से पहले तीनोंको नाश सहित और संसारके रोगों से दूषित समझकर परम पुरुषार्थ मोक्षके साधन में ही यत्न करते हैं।

कर्मोंका नष्ट होना और जन्ममरणसे रहित होकर आत्मसम्बन्धी चिदानन्दमयी पराकाष्ठा को प्राप्त करना मोक्ष का लक्षण कहा है। मोक्ष में इन्द्रियों और विषयोंके सुखसे कहीं बढ़कर सुख होता है। इन्द्रियों का सुख क्षणिक अन्तमें दुःखदायी होता है और मोक्षका सुख चिरस्थायी और सर्वदा आनन्दमयी होता है। मोक्ष में स्वाभाविक सुख मिलता है और यह ऐसा सुख है कि इसकी और किसी प्रकार के सुख से उपमा नही दे सकते। इस मोक्ष में आत्मा शरीररहित और शुद्ध होकर केवल ज्ञान-स्वरूप हो जाता है।

धीर वीर पुरुष इस परमसुखरूप मोक्षकी प्राप्ति के लिये तप करते है और सारे ससार के झगड़ोंको छोडकर मुनिपद धारन करते है। मोक्षके साधन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है। इन्हीमें ध्यान भी अनुगत है, इस लिये पहले ध्यान का उपदेश देते है।

ध्यानके कारण मनुष्य संसार के दुःखों और पुनर्जन्म से छूट जाता है और ध्यान वा चित्तकी एकाग्रतासे ही मनुष्य सम्यग्-ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेता है। इस कारण ध्यान ही आत्मा के लिये परम उपयोगी और हितकारी है।

ध्यान अवस्था वा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त करने के अधिकारी होने के लिये यह अवश्य है कि हम मोह और परिग्रहोंको छोड़ दें, संसारके धंधोंमें बहुत लिप्त न होकर उनसे निकलने की इच्छा

करें, चित्तमेंसे सकल संशयोंको दूर कर दे, अज्ञान रूपी मोहनिद्राको क्षीण कर दें, तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जानने का यत्न करे, प्रमाद और इन्द्रियों के विषयसे चित्तको रहित करे, मनको मुक्तिमार्ग में अनुरक्त और सांसारिक देह भोगों से विरक्त करें और विवेकमें लगावें इसके अनन्तर ध्यानका सारांश सुननेसे चित्त पवित्र और शुद्ध होता है ।

जीवोंके आशय तीन प्रकारके होते है शुभ, अशुभ और शुद्ध । इस भेदसे ध्यान भी तीन प्रकारके है अर्थात्, प्रशस्त अप्रशस्त और शुद्ध । शुभ वा प्रशस्त ध्यानके कारण मनुष्य स्वर्गकी लक्ष्मी को भोगते है और धीरे २ मोक्षको प्राप्त होते है, अप्रशस्त वा दुर्ध्यानसे मनुष्योको अशुभ कर्म वधते है और इन अशुभ कर्मोंका क्षीण करना कठिन होता है । जो जीव शुद्ध ध्यानमे लगे हुए है, वे पाप और दुःखोसे छुटकारा पाकर अविनाशी पद और केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते है और सदा सुखी रहते है ।

योगी जन सम्पूर्ण सासारिक इच्छाओको छोड़कर और निर्मोही होकर बन के किसी एकान्त पवित्र और शुद्ध स्थानमें जाकर ध्यान करते है । पृथ्वी ही उनकी सेज है, उनकी भुजा उनका तकिया, आकाश उनका चन्दोआ वा शामियाना, और चान्द उनका दीपक है । वैराग्यरूपी स्त्रीके संग रमण करके सदा आनन्दमे मग्न रहते है और दिशारूपी स्त्रिया चारों ओर की पवनसे उनपर पंखा झलती रहती है । ऐसा त्यागी राजर्षि राजाकी नाई ध्यानमें रत होकर सुखसे सोता है । यही भाव निम्नलिखित श्लोकमे प्रकट किया है:—

भूः पर्यङ्को निजभुजलता कन्दुकं खं वितानं
दीपश्चन्द्रो विरतिवनितालब्धसङ्गप्रमोदः ।
दिक्कान्ताभिः पवनचमरैर्वीज्यमानः समन्ता-
द्भिक्षुः शेते नृप इव भुवि त्यक्तसर्वस्पृहोऽपि ॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो लोग क्रोधादि तजकर शान्तस्वभाव हो जाते है, दया भाव मनमें रखते है और रागद्वेष से रहित होकर आत्मज्ञान ध्यान और शुद्ध भावमे लीन रहते है, हे बड़े ही सुखी है ।

ध्याता ।

श्रीशुभचन्द्राचार्य्यजी कहते है कि ध्याता अर्थात् उत्तम ध्यान करनेवाले पुरुषमे आठ लक्षण होने चाहिये । ध्याता वही है (१) जो मोक्षकी इच्छा रखता हो (मुमुक्षु), (२) जो संसारसे विरक्त हो (निर्मोही, (३) जिसका चित्त शान्त हो (शान्त), (४) जिसका मन अपने वशमे हो (वशी), (५) जो शरीरके सागोंपांग आसनमें दृढ़ हो (स्थिर), (६) जिसने इन्द्रियोंको दमन कर लिया हो (जितेन्द्रिय), (७) धृति क्षमा मार्दव इत्यादि गुणों करके युक्त हो (संवृत,) (८) विपत् पड़ने या रोगग्रस्त होनेपर भी बराबर ध्यानमें लगा रहे (धीर)

अब यह बताते है कि गृहस्थाश्रममे रहकर इस प्रकारका उत्तम ध्यान नहीं हो सकता अर्थात् गृहस्थोंको मोक्षपदवी नहीं प्राप्त हो सकती । मोक्ष और उत्तम ध्यानके अधिकारी केवल मुनिजन ही हैं जिन्होंने संसारके बन्धनको तोड़ दिया है और विषयभोगादिकी

सर्परूपी टेढ़ी चालको सर्वथा त्याग दिया है और इस प्रकार संसारसे विरक्त होकर वनके किसी एकान्त और शुद्ध स्थानमें चले गए हैं और शरद ऋतुके चन्द्रमा की कान्तिसे चमकते हुए गगनमण्डलके कारण शोभायमान और सुन्दर रात्रिको अपने कल्याणके लिए केवल आत्मा के ध्यानमें मग्न होकर बिताते है। जैसा भर्तृहरिजीने अपने वैराग्यशतकमें प्रकट किया है:—

अहो धन्याः केचित्त्रुटितभवनबन्धव्यतिकरा
वनान्तेऽचिन्वंतो विषमविषयाशीविषगतिम्।
शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयचिन्तैकशरणाः॥

संसारी जीव प्रमादसे मूढ है और क्रोध मोहादिकों के कारण अनेक दुःखों में फँसे हुए है, घरके धधोंमें लिप्त होकर वे अपने मनको वशमें नही कर सकते, अनेक प्रकारके कलहोंसे चित्तमें दु.खी रहते है, स्त्रियोंके फदेमें पडकर रातदिन धन कमाने और विषयभोग करनेमें लगे रहते है। ऐसे 'हुतवह परीत इव' गृहस्थ आश्रममे रहकर जहा चारों ओरसे क्रोध द्वेष ईर्ष्या विरोध आदि अग्निकी ज्वालाएं उठ रही है चित्तकी शान्ति और उत्तम ध्यान कहा हो सकता है? इसी लिए गृहस्थावस्थामें उत्तम ध्यानका निषेध लिखा है।

विपरीत इसके जिन्होंने गृहस्थधर्म छोड भी दिया है परन्तु तत्त्वोंके स्वरूपका भले प्रकार निर्णय नहीं किया है अर्थात् जिनका श्रद्धान मिथ्या है, वे मुनि होकर भी उत्तम ध्यानमें सिद्धि नही प्राप्त कर सकते। मिथ्यादृष्टियों को जब वस्तुका ठीक २

स्वरूप ही मालूम नहीं, तो उनको ध्यानकी सिद्धि कैसे हो सकती है?

फिर यह भी जानना चाहिये कि जिन्होंने गृहस्थ आश्रमको त्याग दिया और तत्त्वोंका ठीक २ स्वरूप भी समझ लिया परन्तु सत्यशास्त्रोक्त मुनिधर्मके विरुद्ध आचरण करते रहे—अर्थात् मुनि-का वेष धरकर अनेक प्रकारसे लोगोको ठगते और धोका देते रहे उनको स्वप्नमें भी ध्यान की सिद्धि नही हो सकती है। ऐसे पुरुष परिश्रमसे बचने, मज़े उडाने, तर माल खाने, विषय भोगने, ठग्गीका जाल फैलाने और अनेक प्रकारके कुकर्म करनेके लिए मुनि होते है। ये लोग तो गृहस्थोसे भी बुरे है?

ध्याता योगीश्वरों की प्रशंसा।

वे संयम धारण करनेवाले मुनि धन्य है जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानते है, मोक्षकी आकाक्षा रखते है और ससार के क्षण-भंगुर सुखोंको नही चाहते है। अनेक योगीश्वर ऐसे हो गए है और कदाचित् आजकल भी ढूढनेंसे मिल सकते है जो ससारसे विरक्त है, जिनके भाव शुद्ध है और जिनकी चेष्टाएं पवित्र है। ध्यानस्थ मुनि वे ही है जिन्हों नें एक वार मुनिपन को अंगीकार करके प्राणोंके नाश होनेपर भी संयमकी धुरीको नही छोड़ा, जिन्होंने सकल परीषहोंको जीत लिया और क्रोध लोभ मोह अह-ङ्कार को वशमें कर लिया, जिनके मनमें मैत्री (अपने बराबर वालोंके साथ मित्रता) कारुण्य वा करुणा (अपने से छोटों पर दया) प्रमोद वा मुदता (अपनेसे बड़ों को देखकर प्रसन्न होना)

और माध्यस्थ्य वा उदासीनता (बुरे मनुष्यों और दुर्जनोंसे कुछ सम्बन्ध न रखना) ये भावनाएं सदा वास करती है और इस कारण किसी प्रकार के कामादि विकार भाव नही उपजते, जिनके तीव्र तपके आगे कामदेव जल कर भस्म हो जाता है और जो केवलज्ञानरूप और पूर्ण आनन्दमय है ।

ऐसे मुनियोंके महातम (माहात्म्य) की व्याख्या नही हो सकती । ये सम्पूर्ण विद्याओमें विशारद है । इनका चित्त निर्मल और दयामय है । ये सुमेरु की नाई अचल होकर अपने नियमो पर दृढ है । चन्द्रमा के समान आल्हादक और सुखदायक है और पवन के सदृश निर्लेप है । लोगोंको हितोपदेश देकर सत्य मार्ग पर लाते है । ऐसे परम उदारचित्त और पवित्र आचरणवाले मुनिवर ही ध्यान के पात्र है ।

ध्यान की सिद्धिके लिये ऊपर लिखे हुए मुनियोंकी सेवा करनी योग्य है ।

हे आत्मन् ! यदि तू मोक्षकी इच्छा रखता है, तो ससारके विषयोंको छोड़ दे और वनके किसी एकान्त स्थानमें जाकर ध्यान में मग्न हो जा । हे सुबुद्धि ! यह आयु· समुद्र की लहरों की नाई चंचल है, जवानी की शोभा भी थोड़े ही दिनो में जाती रहेगी, धन भी संकल्पके समान चिरकालतक नही रहेगा, भोगविलास बिजली के सदृश झट नष्ट हो जानेवाले है, प्यारी स्त्रियोंके गलेसे आलिङ्गन भी चिरस्थायी नही है । इस कारण इस भवरूपी भयानक सागरसे पार होने के लिए अपने चित्तको इन्द्रियों के विषय

से हटाकर ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के ध्यान में लगा। जैसा भर्तृ-हरिजीने निम्न लिखित श्लोक में कहा है:—

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्॥

जीवतत्त्व।

लक्षण—जीव चेतन है, ज्ञानमय है, अमूर्त है, अर्थात् इसे आंखोसे नही देख सकते है और स्वदेहपरिमाण है। अर्थात् जैसी छोटी बडी देहको पाता है, उसका आकार छोटा बडा होजाता है। इसीका नाम प्राणी देही आत्मा है। यही जीव मिथ्यात्वमें फँसकर वेदनीय आदि कर्म करता है, अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार दु ख सुख भोगता है और कर्मों करके तीनों लोक नरक स्वर्ग और निगोदमें भ्रमण करता रहता है। यही जीव रत्नत्रय को प्राप्त करके यह विचारता है कि मै एक हूं, सब से अन्य हूं और कुटुम्ब धनादिकों में से कोई भी अन्त समयमें मेरा संगी और सहायी नही होगा। इस प्रकार सकल कर्मोंका नाश करके और ज्ञानरूप होकर निर्वाण वा मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। और वहा अनन्त कालके लिये स्थिर, और अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, तथा अनन्त शक्तिसम्पन्न हो जाता है।

महत्त्व—आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, विशुद्ध और परमेष्ठी (परम पदमें स्थित) है और सार्व है अर्थात् अपनी सर्वज्ञता और सर्व

दर्शिताके कारण संसारके परमाणु तकके वृत्तान्तको जानता और देखता है और इसी अर्थमें उसको सार्व या सर्वव्यापक कहा है। सार्वसे यह भी जानना चाहिये कि आत्मा सबके हितके लिए समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है अर्थात् अनेक जीव जो इस संसार में है यद्यपि कर्मबन्धन के कारण इस समय परमात्मा नही है परन्तु एक समय ऐसा आसकता है कि, वे कर्मरहित होकर परमात्मा वा परमात्माके सदृश होजाएंगे।

यह आत्मा अनन्त वीर्यवान् है, सकल वस्तुओंको प्रकाशित करता है, और ध्यान शक्तिके प्रभावसे तीनों लोकोको भी चलायमान कर सकता है। इस आत्माकी शक्ति योगियोंके भी अगोचर है। क्योंकि विशुद्ध ध्यानके बलसे जिस समय यह आत्मा कर्मरूपी बन्धनोंको भस्म कर देता है, उस समय इस आत्मा में अनन्त पदार्थोंके देखने तथा जाननेकी शक्ति प्रगट हो जाती है, और फिर यह आत्मा ही स्वयं साक्षात् परमात्मा बन जाता है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" (गीता)

गीताके निम्नलिखित श्लोकोंसे भी आत्माकी शक्ति और कर्मानुसार फल भोगनेका ज्ञान होता है—

> **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।**
> **न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥**

अर्थ—इस देही या आत्माको खड्ग आदिक शस्त्र नहीं काटते, आग नहीं जलाती; जल नहीं भिगोता और वायु नहीं सुखाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य पुराने कपड़े उतार डालता है और नए पहन लेता है, इसी प्रकार यह देही या आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है।

प्रकार–इसलिए जीव दो प्रकारके है (१) **कर्मरहित** जीव, जिसको हम सिद्ध, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, बुद्ध, जिन, खुदा, 'गौड' आदि नामसे पुकार सकते है (२) **कर्मसहित** या अमुक्त जीव, यह जीव, अपने २ कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियों में भ्रमता फिरता है और इन योनियोंके अनुसार कभी मनुष्य, कभी तिर्य्यञ्च, कभी वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, आपः काय तेजस्काय, वायुस्काय, कभी स्वर्गीय और कभी नारकी कहलाता है।

अमुक्त जीव दो प्रकारके है,—एक **स्थावर** दूसरे **त्रस** या जंगम। स्थावर जीव वे है, जिनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय हो, जैसे वृक्ष, लता, अग्नि, जल, वायु पृथ्वी, पहाड़ ये सब जीव हैं, इनमें चेतनशक्ति है और अनेक कारणों से घटते बढते या नष्ट होते रहते है।

त्रस जीव चार प्रकारके है (१) द्वीन्द्रिय, जिनके दो इन्द्रियां स्पर्शन (त्वचा) और रसना (जिन्हा) है, यथा–लट, गिंडोला आदि (२) त्रीन्द्रिय, तीन इन्द्रियोंवाले ऊपर की दो और तीसरी नासिका या घ्राण इन्द्रिय, यथा–चीवटी, खटमल आदि (३) चतुरिन्द्रिय, चार इन्द्रियोंवाले, ऊपर की तीन और चौथी नेत्र यथा भ्रमर, मक्खी, ततैया आदि (४) पञ्चेन्द्रिय, पांच

इन्द्रियोंवाले, ऊपरकी चार और पांचवीं कान इन्द्रिय, यथा मनुष्य, देव, पशु, पक्षि आदि, इन पञ्चेन्द्रियोंके संज्ञी और असंज्ञी दो भेद है। संज्ञी वे है जिनके मन हो अर्थात् जिनमें बुरा, भला विचारनेकी वा इशारों से समझनेकी शक्ति हो। असज्ञी वे है, जिनमे ऐसी शक्ति न हो।

फिर इन चार प्रकारके त्रसजीवोंके अनेक भेद है, यथा—जलचर, जो जलमें रहे जैसे मछली, मगरमच्छ आदि, थलचर, जो पृथ्वीपर चलते फिरते है, जैसे मनुष्य, पशु आदि, खेचर जो आकाशमे उडते रहे, जैसे पक्षी आदि, उभयचर, जो जल थल दोनोंमे रहे, अथवा आकाश और पृथ्वीमे तथा आकाश और जल में रहे।

अजीवतत्त्व।

यह जानना चाहिये कि द्रव्य छै है, (१) जीव (२) अजीव और फिर अजीव के पाच प्रकार है जिन्हें पञ्चास्तिकाय भी कहते है,—

(१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) काल (५) आकाश। इन पाचोंमें पहला अर्थात् पुद्गलरूपी या मूर्त्तीक है और पिछले चार अरूपी या अमूर्तीक है।

द्रव्य उसे कहते है जो अपने गुण और पर्य्याय को लिए हुए हो। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश में से प्रत्येक अपने २ गुण और पर्य्याय रखते है, इस लिये द्रव्य कहलाते है। जीव के गुण अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य्य, अनन्त

सुख आदि हैं, **पुद्गल** के गुण स्पर्श, रस, गन्ध, गुरुत्व, लघुत्व आदि है । **धर्म** का गुण जीव और पुद्गल की गति या उन के चलने में सहकारी होना है और **अधर्म** का गुण इन दोनों के ठहरने या रोकने में सहकारी होना है । देखो जब जीव और पुद्गल अपनी २ शक्ति से चलते हैं तो धर्म (अस्तिकाय) उनके चलने मे निमित्त कारण या अपेक्षाकारण है, जैसे घरके ऊपर कोई मनुष्य चढ़े, चढता तो अपने पांवों से है पर सीढ़ी या पौड़ी बिना नही चढ सकता; जैसे मछली जल में तैरती तो अपनी शक्ति से है पर निमित्त कारण जल है, ऐसे ही जीव और पुद्गल की गति का सहायक धर्मास्तिकाय है । अधर्मास्तिकाय का स्वरूप भी धर्म की नाई है, पर भेद इतना है कि धर्म चलने में सहायक है और अधर्म रोकने में, जैसे ग्रीष्मकाल में जब कोई पथिक (बटेऊ) चलता २ थक जाता है तब किसी वृक्ष की छाया में बैठता है, देखो बैठता तो वह आप ही है पर वृक्ष आदि के आश्रय बिन नही बैठता, ऐसेही जीव और पुद्गल ठहरते तो अपनी शक्तिसे हैं पर अधर्म उनके ठहरने मे सहाई है । **काल** का गुण बीतना और समय बिताना है और **आकाश** का गुण अपने आप को छोड़ कर अन्य पाचों द्रव्यों को तथा जीव और पुद्गल को रहने को स्थान देना है ।

धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये चारों अजीव जैसे अभी बताया गया है, **अमूर्तीक** पदार्थ है और पुद्गल अजीव **मूर्तीक** है । ये पांचों जड़ पदार्थ है और इन सब में हिलने जुलने या जानने

की सामर्थ्य नहीं है, इनके विपरीत जीव का गुण चेतना है और जीव चल फिर सक्ता है और जान सक्ता है ।

मूर्त्तीक जड़ पदार्थों में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श गुण इन्द्रियों के द्वारा पाए जाते है । इन चार गुणों में से हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा किसी २ गुण को नही भी देख सक्के और ग्रहण कर सक्के है पर ये चारों गुण आपसमे इस प्रकार मिले जुले है कि जिस पदार्थ में एक गुण स्पष्ट होगा उस मे इतर तीन गुण भी होंगे ।

इन पुद्गलों के कई भेद है । बड़े दो है १ परमाणु २ स्कन्ध सब से छोटे पुद्गल को परमाणु कहते है और अनेक परमाणुओं में एकपने का ज्ञान करानेवाले सम्बन्धविशेष को स्कन्ध कहते है ।

इन पुद्गलों मे अनन्त शक्ति और अनन्त गुण है । एक द्रव्य, दूसरे क्षेत्र, तीसरे काल, चौथे भाव निमित्तों के मिलने से भाति २ की और चित्र विचित्र वस्तु देखने मे आती है । यह सब पुद्गल का ही विस्तार है । देखो जिस वस्तु मे जैसे परमाणु आकर इकट्ठे हो जाते है वह वैसी ही दिखाई देती है, इसी प्रकार परमाणुओ के मिलाप से मूर्तीक अजीव या पुद्गल के अनेक भेद हो जाते है जैसे १ वादरवादर २ वादर ३ वादरसूक्ष्म ४ सूक्ष्मवादर ५ सूक्ष्म ६ सूक्ष्मसूक्ष्म ।

वादरवादर,—वे पुद्गल जो टुकडे हुए पीछे फिर अपने आप न जुड़ सके, जैसे धातु, पत्थर आदि ।

वादर,—जो अलग हुए पीछे फिर मिल जाएं, जैसे घृत, तैल, जल, आदि ।

वादरसूक्ष्म,–जैसे, छाया, चान्दनी आदि ।

सूक्ष्मवादर,–जैसे गन्ध, वायु आदि ।

सूक्ष्म,–जिनको इन्द्रियों से ग्रहण न कर सकें, जैसे कर्म वर्गणादिक ।

सूक्ष्मसूक्ष्म,—कर्मवर्गणा से छोटे, परमाणुओं के बने हुए स्कन्ध ।

यह भी याद रक्खो कि इन चेतन अचेतन पदार्थों में तीन गुण है । जिनका वर्णन ' शील और भावना ' में आचुका है । इन तीन गुणों या तीन मूल शक्तियों का नाम जिनमत में " उत्पाद व्यय ध्रौव्यत्व " है ।

शेष तत्त्वों का वर्णन ।

इस ससार में कर्म सहित जीव और पुद्गल अर्थात् आत्मा और शरीर का सम्बन्ध परम्परा से चला आया है और इसी सम्बन्ध ने जीव के वास्तविक गुणों सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, सर्व-शक्तिमत्ता और सच्चिदानन्दरूप को छुपा रक्खा है । जैसे कीचड़ मे पड़ा हुआ और मिट्टी मे मिला हुआ रत्न नही चमकता, इसी प्रकार पुद्गल से मिला हुआ जीव अपने वास्तविक गुणो को प्रगट नहीं कर सक्ता । इस ससार मे जीव को जो दु.ख और सुख या हर्ष और शोक होता है इसी सम्बन्ध के कारण है । जब तक जीव को मोक्ष नही प्राप्त होती, तब तक यह सम्बन्ध बना रहता है और इसी लिए यह जीव नाना प्रकार के घोर कष्ट और महा दुःखों में फँसा रहता है और आवागमन की शृङ्खला में जकड़ा

हुआ है । परम मोक्ष के ढूंढ़नेवालों के लिए सात तत्त्वों का सर्वथा जानना अवश्य है । ये सात तत्त्व (१) जीव, अर्थात् आत्मा (२) पुद्गल अर्थात् जड़ प्रकृति या देह (३) आस्रव, नए कर्मों का आना (४) बन्ध कर्मों का जीव को बाँधना (५) सम्बर, नए कर्मों के आने को रोकना (६) निर्जरा, प्रत्येक कर्म का पृथक् २ नाश करना और होना (७) मोक्ष, सकल कर्मों से सदा के लिए रहित होना और पारमार्थिक (वास्तविक) गुणों पर से आवरण का दूर होना और इस आवरण के दूर होजाने से उन गुणों का प्रगट होना । इन सातो को सात तत्त्व कहते है । इन में से जीव और अजीव का व्याख्यान हम पहले कर चुके है और आस्रव, सम्बर और निर्जरा का सक्षिप्त वर्णन 'शील और भावना' मे आचुका है, अब हम आगे जाकर बन्ध और मोक्ष का वर्णन करेगे,, अर्थात् कर्मों के द्वारा कर्म—बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करेंगे ।

कर्मों का वर्णन करने से पहले हम इन सातो तत्त्वों को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते है,—यदि आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध को एक तलाव मान लिया जाए और शुभ अशुभ कर्मों का इसमें जल भरा हुआ समझा जाए और मन, वचन, काय नए कर्मरूपी जल आने के लिए इस तलाव की मोरिया मान ली जाए, तो नए कर्मरूपी जल आने को **आस्रव** कहते है और इस जल को आकर तलाव में एकत्रित होने का नाम **बन्ध** और मोरियों के मुँह बन्द करने और इस प्रकार नए जल के आने को रोकने का नाम **सम्बर** और धीरे २ जल के प्रत्येक भाग

के अलग २ सूख जाने का नाम **निर्जरा** है । और जैसा कि तलाव का सारा जल ज्येष्ठ वैशाख में सूर्य की तीव्र उष्णता से सर्वथा सूख जाता है और वह तलाव तलाव नहीं रहता, इसी प्रकार तप ध्यान और योगाभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण शुभ और अशुभ कर्मों का नाश होजाता है और आत्मा का देह से सम्बन्ध टूट जाता है । मन, वचन, काय जो कर्मों के आगमन के मार्ग थे और पुद्गल या देह के अणु या भाग थे, आत्मा और पुद्गल के अलग २ होजाने से आत्मा के साथ नहीं रहते; इस कारण नए कर्म उत्पन्न नहीं होते । पिछले कर्मों के न रहने और नए कर्मों की उत्पत्ति बन्द होने से आत्मा और पुद्गल का फिर दूसरी बार सम्बन्ध नहीं होता, आवागमन का तार टूट जाता है, पुद्गल के सम्बन्ध से आत्मा पर जो आवरण पड़ा हुआ था वह हट जाता है और आत्मा के वास्तविक या स्वाभाविक गुण सर्वज्ञता आदि प्रगट होने लगते है, इसी का नाम मोक्ष या मुक्ति है । फिर इस जीवात्मा का नाम परमात्मा हो जाता है ।

रत्नत्रय ।

पहले आत्मध्यान और मोक्ष के व्याख्यान में वर्णन किया गया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष वा मुक्ति के साधन है, इन्ही को रत्नत्रय भी कहते हैं । अब हम इन तीनों को संक्षेप से वर्णन करते है ।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को इसी क्रम से किया गया है । दर्शनके अर्थ श्रद्धान या श्रद्धा करने के हैं । श्रद्धा को

सबसे मुख्य रक्खा है क्योंकि श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान नही हो सक्ता। सच पूछो तो श्रद्धा एक प्रकार की नीव है और ज्ञान घर है, जैसे घर बिना नीव के नही बन सक्ता वैसे ही सम्यग्ज्ञान बिना श्रद्धा के नहीं आ सक्ता, इस कारण सम्यग्ज्ञान के लिए प्रथम श्रद्धा का होना आवश्यक है। वस्तुत श्रद्धा धर्म की नीव है और सकल धर्मकार्य में श्रद्धा अग्रणी है।

फिर यह देखना चाहिये कि मिथ्यात्व में श्रद्धा करने से मिथ्या-ज्ञान और सत्य में श्रद्धा करने से सत्यज्ञान प्राप्त होगा। इस का निर्णय पीछे से हो सक्ता है कि हमारा ज्ञान सत्य है या मिथ्या जैसे कि नीव पड़ने के पीछे ही घरका बोदा या पक्का होना सिद्ध हो सक्ता है। इस लिए श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे पर निर्भर है। फिर उस श्रद्धापूर्वक सम्यग्ज्ञान के अनुसार चलने को सम्यक् चारित्र कहते है। यदि ज्ञान ठीक नहीं है तो उस पर चलना या उस के अनुसार काम करना भी ठीक नही होगा। और बिना चारित्र के निरे ज्ञान का होना व्यर्थ है और चारित्र बिना श्रद्धा के बहुधा फलदायक नही होता इस लिए दर्शन ज्ञान और चारित्र आपस में सम्बद्ध है।

दर्शन के अर्थ आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को साक्षात् करनेके भी है जैसा लिखा है—**योगिनो आत्मना आत्मन्येव आत्मानं पश्यन्ति।**

आप आपमें आपको देखे दर्शन सोय।
जानपनो सो ज्ञान है थिरता चारित होय॥

सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता ही

मोक्षमार्ग है। दर्शन ज्ञान और चारित्र की शुद्धता प्राप्त किए बिना ध्यान करना निष्फल है क्योंकि ऐसे ध्यान से मोक्ष नहीं मिल सक्ती।

सम्यग्दर्शन।

जीवादि सात तत्त्वों में जिन का वर्णन पहले आचुका है, श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है। इसकी प्राप्ति के दो प्रकार है, **निसर्गेण** अर्थात् स्वभाव से वा **अधिगमेन** अर्थात् परोपदेश से। यह सम्यग् दर्शन भव्य जीवों ही को प्राप्त होता है अभव्य को नहीं। सम्यग् दर्शन को **सम्यक्त्व** भी कहते है।

सम्यक्त्व तीन प्रकार का है। दर्शनमोहिनीय की तीन और चारित्रमोहिनीय की चार प्रकृतियों के उपशम वा दुर्बल होने से **उपशमसम्यक्त्व**, इन के क्षय वा सर्वथा दूर होनेसे **क्षायिकसम्यक्त्व**, और इन के कुछ क्षय तथा कुछ उपशम होने से **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** होता है। हमे सच्चे देव सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु में श्रद्धा रखनी चाहिये और मिथ्यात्व से बचना चाहिये।

अन्तमें सम्यग्दर्शन की महिमा वर्णन करते समय कहा है कि सम्यग्दर्शन अमृतरूप है इस को सदा पान करना चाहिये; सम्यग्दर्शन पूर्ण और अनुपम सुख की खानि है, सब प्रकार के कल्याण इसी से प्राप्त होते है, यही इस भवरूपी सागर से पार होने की बृहत् नौका है इसी से पाप के बन्धन कटजाते है, यही सारे पवित्र तीर्थों में मुख्य तीर्थ है। यह सम्यक्त्व महारत्न है और मोक्ष पर्यन्त आत्मा का कल्याणदायक है, सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान का उत्पन्न करनेवाला है, यम (महाव्रतादि) और प्रशम

(विशुद्ध भाव) का जीवन स्वरूप है अर्थात् सम्यक्त्व के बिना यम और प्रशम निर्जीव के तुल्य है, इसी से शमदमबोधव्रततपादि फलीभूत हैं। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र है। जिसको विशुद्ध और निर्मल सम्यक्त्व है वही पुण्यात्मा वा महाभाग्य है क्योंकि मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यक्त्व ही मोक्ष का मुख्य अग कहा गया है।

सम्यग्ज्ञान।

जीवादि सात तत्त्वों को भले प्रकार यथार्थ रीति से जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् वस्तु के स्वरूप को न्यूनता अधिकता विपरीतता और सन्देह रहित वा पूर्ण रीति से जैसा का तैसा जानना सम्यग् ज्ञान है।

कर्मनिमित्त से ज्ञान के पांच भेद है—

१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मन.पर्ययज्ञान ५ केवलज्ञान

१ मतिज्ञान–ससार में जितनी वस्तु है उन का ज्ञान पांच इन्द्रियों अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा, देह और छटे मन के द्वारा होता है वा यह कहो कि किसी वस्तु के जानने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी इन्द्रिय के समीप हो और मन उस की ओर ध्यान दे। इस प्रकार जानने से जिस वस्तु की स्थिति सिद्ध और निश्चित हो जाए उसे **अर्थ** कहते है और जिस वस्तु के होने में संदेह रहे उसे **व्यञ्जन** कहते हैं यथा नासिका में किसी प्रकार की सुगन्धि आई और तत्कालही नष्ट होगई, श्रोत्र में

कुछ शब्द सा हुआ और झट जाता रहा, और यह प्रतीत नहीं हुआ कि वह सुगन्धि वा शब्द कहां से आया था, तो ऐसी संदिग्ध वस्तुको व्यञ्जन कहते है।

मतिज्ञान के ३३६ भेद किए है इन को तत्त्वार्थसूत्रजी की टीकाओंसे जानना चाहिये।

२. श्रुतज्ञान—शास्त्र द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हो उसे श्रुतज्ञान कहते है। शास्त्र चार प्रकार के है,—

(क) प्रथमानुयोग—इसमें इतिहास और महापुरुषों के चरित्रका वर्णन है। (History and Biography)

(ख) करणानुयोग—इस में लोक अलोक के विभाग तारागण और ग्रहादिक, युगों के पलटने और चारों गति नरक स्वर्गादिक का वर्णन है। (Geography and Astronomy)

(ग) चरणानुयोग—इस में गृहस्थ और मुनियों के चारित्र का वर्णन है। (Morality and Ethics)

(घ) द्रव्यानुयोग—इस में जीव अजीव तत्त्वों, पुण्य पाप, बन्ध मोक्ष आदिक का व्याख्यान है। (Philosophy and Logic)

३. अवधिज्ञान—वह ज्ञान है जिससे हम अपने वा अन्य जीवों के कुछ पूर्व जन्मों के (सारे जन्मों के नही) और अन्य प्रकार के वृत्तान्त एक विशेष सीमापर्य्यन्त जान लेते है। इसके दो भेद है,—

(क) भवप्रत्यय—जो ज्ञान देव और नारकी जीवों को भव अर्थात् जन्म ही से होता है।

(ख) क्षयोपशम—जो ज्ञान मनुष्य तथा जीवों को कर्मों के नष्ट वा दुर्बल होने से होता है। यह छै प्रकार का है।

१. अनुगामि—जो दूसरे जन्ममें भी साथ जाता है।

२. अननुगामि—जो दूसरे जन्ममें साथ नही जाता।

३. वर्द्धमान—जो सम्यग् दर्शनादि गुणों के बढने से बढ़ता रहता है।

४. हीयमान—जो सम्यग् दर्शनादि गुणों के घटने से घटता चला जाता है।

५. अवस्थित—जो जितना उत्पन्न हुआ था केवलज्ञान की प्राप्ति तक उतना ही रहता है।

६. अनवस्थित—जो सम्यग् दर्शनादिकी न्यूनाधिकता के साथ घटता बढ़ता है।

४. मन पर्यय ज्ञान—इस के द्वारा दूसरों के मन के भाव विदित हो जाते है। इस के दो भेद है,—

(क) ऋजुमति (ख) विपुलमति। इनसे दूसरोंके सकल्प विकल्प और मन देह और जिह्वा से की हुई सीधी और टेढ़ी बाते जानली जाती है।

पहला ज्ञान अर्थात् ऋजुमति प्राप्त होकर छूट भी जाता है और दूसरा अर्थात् विपुलमति प्राप्त हुए पीछे फिर नही छूटता।

५. केवलज्ञान—इस ज्ञान से सारे द्रव्यों के पर्याय जाने जाते है, त्रिकाल और त्रिलोक का समस्त वृत्तान्त विदित होजाता है। यह सर्वोपरि और अतीन्द्रिय ज्ञान है। इस के कोई भेद नहीं हैं और यह ज्ञान योगीश्वरों को ही होता है।

"इस प्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षातो ये पांचों ही ज्ञान एक है, तथापि कर्म के निमित्त से पांच प्रकार के भेद कहे गए। क्योंकि मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान कर्मों के क्षयोपशम से होते है और केवलज्ञान आत्मा का निजस्वभाव है, जो घातिया-कर्मोंके सर्वथा क्षय होने से प्रगट होता है। यह ज्ञान अविनाशी और अनन्त है सदा जैसा का तैसा रहता है और इस को फिर कभी कर्ममल नही लगता है"।

अब श्रीशुभचन्द्राचार्यजी सम्यक् ज्ञानका माहात्म्य वर्णन करते है,—

मिथ्यारूपी अन्धकार और अज्ञानरूपी तिमिर ज्ञान ही से नष्ट होते है, ज्ञान ही भवसागर के दुःखों से पार करने के लिए एक उपयोगी और समर्थ नौका है, ज्ञान ही से इन्द्रियां और मन वशीभूत हो सक्ते है, ज्ञान ही से समस्त तत्त्वों का सार प्रकाशित होता है, ज्ञान के प्रभाव से सारे पाप दूर हो जाते है और ज्ञानरूपी अग्नि से सकल कर्म भस्म हो जाते है और मनुष्य कर्म के बन्धनों से छूट जाता है जैसा गीतामे लिखा है—**'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते'**।

हे भव्यजीव तू ज्ञान का आराधन कर, क्योंकि ज्ञान पापरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान है मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास करने के लिए कमलके सदृश है, कामरूपी सर्पको दमन करने के लिए मन्त्र के तुल्य है, चित्तरूपी हस्तीको वश में करने के लिए सिंह के समान है; कष्टरूपी बादलों को तितर बितर करने के लिए पवन का काम देता है, सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाश करनेका

मानो एक दीपक है, और विषयरूपी मछलियों को पकड़ने के लिए एक जाल है ।

यह संसार एक प्रकार का वन है, इस वन में पापरूपी सर्प के विष में सारे प्राणी निमग्न है, क्रोधलोभादिक ऊंचे २ पर्वत है और दुर्गतिरूपी नदियां सारे वन में फैली हुई है, जब तक इस संसार-रूपी बन में ज्ञानरूपी सूर्य का उदय न होगा, तब तक अज्ञानरूपी मोहादिक दुःखदायी अन्धकार का नाश नही होगा अर्थात् ज्ञान-रूप सूर्य के प्रकाश होने से किसी प्रकार का दुःख वा भय नहीं रहता ।

सम्यक्चारित्र ।

लक्षण—जो विशुद्धता वा शुद्धि का सब से ऊचा स्थान है, जिस को योगीश्वर और मुनिजन अपने जीवनमें वर्तते है, और जिस के अनुसार चलने से मनुष्य सकल पकार के पापों से छूट जाता है उसे सम्यक् चारित्र कहते है ।

प्रकार—चारित्रको एक वृक्ष मानकर उसके १३ प्रकार लिखे है,–पाच महाव्रत उस वृक्षके मूल वा जड़ है, पाच समिति उसके प्रकार वा फैली हुई शाखाएं है, और वह चारित्ररूपी वृक्ष तीन गुप्तिरूपी फलों से नम्रीभूत है । अब इनका वर्णन करते है ।

पञ्चमहाव्रत ये हैं,—१ अहिंसा २ सत्य ३ अस्तेय या अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह । अर्थात् हिंसा मिथ्याभाषण वा अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच प्रकारके पापों में त्यागभाव होना ही व्रत है ।

पहले अहिंसा महाव्रत का वर्णन करते हैं,—अहिंसा मुख्य गुण है और शेष चार गुण इसी पर आश्रित हैं। सब प्रकार की हिंसा का मन वचन और काय से त्याग हो इसे आद्य महाव्रत कहते है। अर्थात् न तो हिंसा आप करे न किसी से कराए और न किसी को हिंसा करनेकी अनुमति वा सम्मति दे। क्रोध, मान, माया, लोभके वश मे आकर और इन चारो कषायों की न्यूनाधिकता के आधीन होकर भी हिंसा कभी न करे वरञ्च प्रमाद रहित होकर सम्पूर्ण जीवों को बन्धु की दृष्टि से देखे और मित्रभाव रखकर सब की रक्षा करे।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा इन चार गुणों को हमे अपने जीवन मे ग्रहण करना चाहिये। १ मैत्री, हमे सदा वह रीति सोचते रहना चाहिये जिससे हम सारे प्राणियों का भला कर सके। प्रेम वा सार्वत्रिक भलाई का भाव रखने से हमारे ही मन शुद्ध और उच्च नही होंगे वरञ्च इतर प्राणियो मे भी वैसे ही प्रेम के भाव उत्पन्न होंगे। २ प्रमोद, अर्थात् जब कभी हम प्राणीमात्र की उन्नति की वार्ता सुने तो हमारे भीतर हार्दिक और सच्ची प्रसन्नता होनी चाहिये। ३ करुणा, सब भूतों पर दया और अनुकम्पा रखना और उनके दुःखों को दूर करना। ४ उपेक्षा, दूसरोंके अपराधो को क्षमा करना। इसे एक सस्कृत श्लोक में इस प्रकार वर्णन किया है।

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

हिंसा बड़ा भारी पाप है, इससे पापकर्म बधते है और नरकादिक गति भोगनी पड़ती है। हिंसा से धर्मकार्य में रुचि नहीं होती वरञ्च उपार्जित धर्मकार्यों और क्षमादि गुणों को भी क्षणमात्र में नष्ट करदेती है। जो मूर्ख और अज्ञानी विघ्न की शान्ति के लिए हिंसा करते हैं और यज्ञ करते है उनका विघ्न दूर नही होता और न उनको कल्याण प्राप्त होता है।

दया ही धर्म का मूल है और अहिंसा ही धर्म का लक्षण है। अहिंसा ही जगत् की रक्षक और आनन्ददायक है और यही मुक्तिदाता और आत्माका हित करनेवाली है। सकल प्रकार के दानो मे अर्थात् अन्नदान, औषधिदान विद्यादानादि में अभयदान ही प्रधान है। याद रखो कि अहिंसा परम धर्म है।

दया धर्म का मूल है नरकमूल अभिमान ।
तुलसी दया न छॉड़िये जबलग घटमें प्राण ॥

अहिसा से जो श्रेय प्राप्त होता है वह तप, स्वाध्याय अन्य कोटिदान और यमनियमादिकमे नही प्राप्त हो सक्ता। दयालु मनुष्यकी प्रशसा और महिमा अकथनीय है। अहिंसा विवेक को बढ़ानेवाली है आर सर्व प्रकार के कल्याणों की देनेवाली है।

अन्त मे श्रीशुभचन्द्राचार्यजी कहते है कि जिस प्रकार तारागणों में चन्द्रमा है, देवों में इन्द्र, ग्रहों मे सूर्य, वृक्षों में कल्पवृक्ष, जलाशयों में समुद्र, पर्वतों में मेरु, और देवों में मुनियों के

स्वामी श्रीवीतरागदेव प्रधान है, ऐसे ही शील व्रत और तपोंमें अहिंसा प्रधान है ।

अब सत्यमहाव्रत का वर्णन किया जाता है । मनुष्य अपने मुख वा जिह्वा से अनेक प्रकार के मिथ्यादि वचन बोल सक्ता है, परन्तु उत्तम पुरुष और मुनि सत्य वा सच ही बोलते है। असत्य बोलने वा मिथ्याभाषण से अहिंसाव्रत खडित हो जाता है। असत्य बोलनेसे चुप रहना उत्तम है वा स्पष्टरीति से यह कहना भला है कि यद्यपि मै जानता हू पर मै नही बताऊंगा क्योकि इस बातके बताने मे दूसरे की हानि होती है । अर्थात् प्रत्येक को चाहिये कि प्राण भी चले जाँय पर सच बोलने से न डरे । देखो स्वार्थी पुरुषो ने अपनी ओर से असत्य शास्त्र रचकर भोले भाले लोगों को कुमार्ग पर चलाया है, इस से वे आप और अन्य जन भी पाप के भागी बनकर नरक मे जॉयगे ।

मर्मच्छेदी और निर्दयरूपी वचन से करुणामय और मृदु वचन अच्छा है । जो वचन धर्म क्रिया और सिद्धान्त के विरुद्ध हो विद्वानो को विना पूछे ही उनका खण्डन अवश्य करना चाहिये और सत्य धर्मका समर्थन होना चाहिये ।

सत्यमे क्रोध, लोभ, भय, हसी ठट्ठे का त्याग चाहिये, शास्त्रानुसार बाते करनी चाहिये और व्यर्थ बातों में समय नही खोना चाहिये ।

मिथ्याभाषण के पांच अतीचार है ।

१ परिवाद—अर्थात् शास्त्रविरुद्ध उपदेश करना । २ रहो-

व्याख्यान—अर्थात् दूसरे के रहस्य वा गुप्त बात को प्रकट करदेना । ३ पिशुनता—अर्थात् चुगली खाना वा दूसरे की पीठ पीछे उस की बुराई करना । ४ कूटलेख—अर्थात् झूठी बाते लिखना वा किसी के झूठे हस्तलेख बनाना इत्यादि ।

सच बोलने से बहुत से लाभ प्राप्त होते है और झूठ बोलने से अनेक प्रकार के लड़ाई झगडे, विरोध, अनादर, व्यवहार मे हानि और लोकनिन्दा उत्पन्न होती है और परलोक मे नरकगति और अनेक प्रकार के दु:ख अर्थात् दरिद्रता और सब प्रकार के रोग भोगने पडते है ।

सत्यवचन संसार में करै सकल कल्याण ।
मुनि पालैं पूरन इसे, पावैं मोक्ष निदान ॥

अब अस्तेय महाव्रत का वर्णन किया जाता है । भवसागर को पार करने और मोक्ष मार्ग को प्राप्त करने के लिए धीमान् पुरुष नि:सन्देह बिना दी हुई वस्तु को कदापि मन वचन वा कायद्वारा ग्रहण करने की इच्छा नही करता, यही अस्तेयव्रत है ।

स्थूललक्षण—१ रखा हुआ धन अर्थात् कही भूमि मे गड़ा हुआ या घरमें छुपाया हुआ २ गिरा पडा धन ३ जो कोई लेन देन में वा गिनती में भूल गया हो ऐसा धन ४ धरोहर रखा हुआ धन पात्र वस्त्रादिक चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत, उसे आप हरलेना वा दूसरे को दे देना स्थूल चौरी है ।

चोरीके अतीचार १ चौरप्रयोग चोरीका उपाय बताना

२. चौरार्थादान चोरी का धन वस्त्रादिक लेना ३. विलोप, चुंगी आदिक न देना अर्थात् जिस वस्तु पर राजा ने कर लगा रखा है उस को छुपाकर बिना कर दिए घर ले आना और इस प्रकार राजकीय आज्ञा का उलंघन करना ४. अधिक मूल्यवाली वस्तु में हीनमूल्यवाली वस्तु मिलाकर बेचना ५. तोल, मापके बाँट तराजू गज आदिक कमती बढ़ती रखना।

किसी का धन हरना उसके प्राण हरने के समान है। चोरी करना निन्दनीय वस्तु है। चोरी करने से शीलभंग हो जाता है। चोर के हृदय में दया नहीं रहती और पराया धन हरण के लिए अनेक प्रकार के अनिष्ट करता है। चोर को सब अर्थात् उस के मित्र और कुन्वेवाले भी त्याग देते है और उस का चित्त सदा भयभीत रहता है कि कहीं मै पकड़ा मारा या पीटा न जाऊं। चोर के ससर्ग से अच्छे पुरुषों को भी हानि पहुंचती है। चोर को इस लोक और पर लोकमें भी महा दुःख सहने पड़ते है। इस लिए हे मनुष्य! तू दूसरे के किसी स्थान में रखे हुए या गिरे हुए तथा नष्ट हुए धन को मन वचन काय से ग्रहण करना छोड़ दे। चोरी करना वा चोर के पास बैठना भी सर्वथा निषिद्ध है और चोरी मानो एक प्रकार की अग्नि है जो धर्मरूपी वृक्ष को जलाकर नष्ट कर देती है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत लक्षण—जिस व्रत को धारण कर के योगी और मुनिजन परब्रह्म परमात्मा को जानते और अनुभव करते हैं

वह ब्रह्मचर्य महाव्रत है। धीर और सज्जन ही इस व्रत का पालन कर सक्ते है।

महिमा—ब्रह्मचर्य तीनों लोक में प्रशंसनीय है और ब्रह्मचारी पुरुष पूज्यों का भी पूजनीय है। ब्रह्मचर्य चारित्र का एकमात्र जीवन है और इस के विना इतर सारे गुण क्लेशदायक हैं। शीलहीन और इन्द्रियाधीन पुरुष ऐसे कठिन व्रत को कदापि अवलम्बन नहीं कर सक्ते।

महाव्रतधारी ब्रह्मचारी को चाहिये कि निम्नलिखित दस प्रकार के मैथुनों को सर्वथा त्याग दे १. शरीर का बनाव ठनाव करना २. पुष्टिकारक रस का सेवन करना ३. राग बाजे का सुनना और नाच का देखना ४. स्त्री से मिलाप करना ५. स्त्री विषयक विचार करना ६. स्त्री के अंग देखना ७. उस देखने को हृदयाङ्कित करना ८. पहले किए हुए सम्भोग का याद करना ९. आगे भोगने की चिन्ता करनी १० वीर्य्य का पतित होना। मैथुनरूपी वृक्ष का फल देखने में सुन्दर और खाने में स्वादु है, परन्तु खाए पीछे उस का परिणाम विषके समान है और खानेवाले का नाश कर देता है।

कामरूपी अग्नि बड़ी तीव्र है, पहले इस की ज्वाला प्राणियों के हृदय में उठती है फिर धीरे २ बढ़ती जाती है और अन्त में जेठ के सूरज की नाईं प्रकाशमान होकर सारी देह को जलाकर भस्म कर देती है। परम योगी इस लोक को कामान्ध देखकर आत्मध्यान में ही मग्न होते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सारे कर्मों का नाश कर देते हैं।

कामदेव काल के समान महाबली है, इस का पराक्रम अकथनीय है, इसने सारे चराचर जगत् को वश में कर रखा है, यह तीनों लोकों को पीड़ा देता है और लाख जतन करने से भी नष्ट नहीं होता, बिरले ही इस के फंदे से छूटते है। कामातुर पुरुष दश वेगोंसे ग्रस्त होता है.—१ चिन्ता कि स्त्री का संसर्ग कैसे हो २ उस के देखने की इच्छा ३ आह भरता है और कहता है कि देखना नहीं हुआ ४ ज्वर हो जाता है ५ शरीर जलने लगता है ६ भोजन भी अच्छा नहीं लगता ७ मूर्च्छित वा बेहोश हो जाता है ८ उन्मत्त वा पागल बनकर बकने लगता है ९ यह सन्देह हो जाता है कि अब जीना दुर्लभ है अर्थात् जान के लाले पड़ जाते है १० अन्तमें मृत्यु हो जाती है। इन वेगों से व्याकुल प्राणी वस्तुओं के ठीक २ स्वरूप को नहीं देख सक्ता। कामान्ध जीव को जब लोक व्यवहार का ही ज्ञान नहीं रहा तब उसे परमार्थ का ज्ञान कहा हो सक्ता है।

कामज्वर के प्रकोप के तीव्र, मध्यम और मन्द होने से ये दश वेग तीव्र, मध्यम और मन्द भी होते हैं।

यह काम बड़े अभिमानियों का मानभङ्ग कर देता है, बुद्धिमानों का ज्ञान और शील क्षणभर में दूर कर देता है यहा तक कि उन को किसी नीच स्त्री के वश में होकर सब प्रकार के नाच नाचने पड़ते हैं। काम की पीड़ा के आगे चारित्र बिगड़ जाता है, पढ़ना पढ़ाना सच बोलना धीरज रखना सब कुछ भूल जाता है। काम का कांटा लगने वा चुभने से प्राणी की नींद, चलना फिरना, मिलना, जुलना, भोजनादिक सब भाग जाते हैं। काम के

वशमें होकर बुद्धि, बल, धर्म, विवेक, विचार सब कुछ जाता रहता है। योगीजन ही ससार को कामाग्नि से पीड़ित देखकर संयम में तत्पर होकर आत्मध्यान में निमग्न रहते हैं और इस प्रकार परमशक्ति को प्राप्त करते है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत में स्त्रीमात्र का सर्वथा त्याग लिखा है, पर ब्रह्मचर्याणुव्रत के अनुसार परस्त्री से सर्वथा विरक्त होना और अपनी स्त्री में संतोष रखना है। कुशील त्याग के पाच अतीचार हैं १ दूसरे का विवाह करना २ कामसेवन के अङ्गों से भिन्न अङ्गोंद्वारा कामक्रीडा करना (अनङ्गक्रीड़ा) ३ विटत्व– भडवचन बोलना ४ अतितृष्णा– अर्थात् अपनी स्त्री से भी काम सेवन की अत्यन्त इच्छा रखना ५ व्यभिचारिणी स्त्री के घर जाना।

श्रीशुभचन्द्राचार्यजी ब्रह्मचर्य महाव्रत में वृद्धसेवा का भी वर्णन करते है। बड़ों अर्थात् गुरुजनों की सेवा करने से यह लोक और परलोक दोनों सुधरते है, भाव शुद्ध रहते है और विद्या विनयादि गुण बढते है, मानकषायों की हानि होकर चित्त प्रसन्न रहता है। वृद्धों से तात्पर्य यह है कि वे स्वपर पदार्थों के जाननेवाले तप शास्त्राध्ययन धैर्य ध्यान विवेक यम सयमादिक के कारण प्रशंसनीय, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हों और केवल अवस्था से वृद्ध न हों, ऐसे वृद्धों की सेवा आत्मा का कल्याण करनेवाली उत्तम शिक्षा देनेवाली और पदार्थों का सत्य स्वरूप दिखानेवाली है। सत्पुरुषों का उपदेश और उनका सहवास अमृत के समान है। समीचीन वृत्तिवाले सत्पुरुषों की सङ्गति से प्रज्ञा बढ़ती है और सासारिक पदार्थों में आशा तृष्णा घटती है और वैराग्य और मोक्षमार्ग में बुद्धि

दृढ़ होती है। सत्पुरुषों की सेवा से अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होता है और ज्ञानरूपी प्रकाश हृदयमें विराजमान होता है। योगीश्वरों का पवित्र आचरण देखकर वा सुनकर अपना आचरण भी शुद्ध हो जाता है। महात्मा योगीश्वरों की सेवा और सहवास ही से मनुष्य सांसारिक विषयभोगों से रहित होकर पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण कर सक्ता है।

धन धान्यादि के त्याग को परिग्रह महाव्रत कहते हैं।

भेद—परिग्रह दो प्रकार के हैं १ बाह्य वा अचेतन २ अन्तरंग वा चेतन। मुनि को इन सब का त्याग चाहिये।

बाह्यपरिग्रह दश है १ घर २ खेत ३ धन (चांदी, सोना, रुपया पैसा) ४ धान्य (अनाज) ५ मनुष्य (नौकर चाकर) ६ चौपाए (पशु, हाथी, घोड़े) ७ शयनासन ८ यान (सवारी) ९ कुप्य (सोना चादी को छोड़कर शेष धातुएँ) १० भाड (बर्तन आदि)।

अन्तरंग परिग्रह चौदह हैं १ मिथ्यात्व २ स्त्री पुरुष नपुंसक वेद ३ राग ४ द्वेष ५ हास्य (हंसी ठट्टा) ६ रति (अच्छी २ वस्तु ग्रहण करने की इच्छा) ७ अरति (बुरी वस्तुओं से दूर रहने की इच्छा) ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (निन्दा) ११ क्रोध १२ मान १३ माया १४ लोभ।

परिग्रह के अतीचार—१ अतिवाहन (प्रयोजन से अधिक सवारी रखना) २ अतिसंग्रह (वस्तुओं का आवश्यकता से

अधिक संग्रह करना) ३ विस्मय (दूसरे का द्रव्य देखकर वा सुनकर आश्चर्य करना) ४ अतिलोभ (बहुत लालच करना) ५ अतिभार (बहुत बोझ लादना)

योगियों को बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुद्धियों का योग लिखा है, केवल एक पकार की शुद्धि से योगी नही होता । जीवों के लिए अन्तरङ्ग की शुद्धि उत्तम है क्यों कि आभ्यन्तरीय शुद्धि के विना बाह्य शुद्धि व्यर्थ है । परिग्रह महा दु:ख का मूल है क्यों कि परिग्रह से काम, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप होता है और पाप से नरकगति प्राप्त होती है ।

इन पाचों पापों का एक देश (स्थूलता से) यथाशक्ति त्याग करना गृहस्थ का चारित्र है । इस को विकल चारित्र भी कहते है । श्रीशुभचन्द्राचार्य ने इन पापों के सर्वथा त्याग पर ज़ोर दिया है क्योकि उन्हों ने अपनी पुस्तक ज्ञानार्णव मुनियों ही के लिए लिखी है जिस में मोक्ष की प्राप्ति मुख्य है और मोक्ष गृहस्थ आश्रम में प्राप्त होनी दुर्लभ है ।

ये पाच महाव्रत प्रथम तो महत्त्व के कारण है इसी लिए इन को गुणी पुरुष ग्रहण करते है । दूसरे ये स्वयं महान् है इस लिए देवता भी इन के आगे नमते हैं । तीसरे इनके अवलम्बन से अनुपम और अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान प्राप्त होता है इस कारण इन को महाव्रत कहा है ।

समिति पांच हैं १ इर्य्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदान निक्षेपण ५ उत्सर्ग ।

मन वचनकाय की क्रिया का रोकना ये तीन गुप्तियां हैं ।

इर्य्या—(१) प्रसिद्ध तीर्थों तथा जिनप्रतिमाओं को वंदने के लिए और गुरु आचार्य वा वयोवृद्धों की सेवा करने के लिए गमन करना (२) दिन में सूरज की किरणों से स्पष्ट दीखनेवाले और बहुत लोगों से प्रचलित मार्ग में दया से जीवों की रक्षा करते हुए धीरे २ गमन करना ३ चलने से पहले चार हाथ मार्ग को भले प्रकार देख लेना और प्रमादरहित होकर चलना ।

भाषा—संदिग्ध और पापसंयुक्त भाषा वा वाणी का त्याग करना और दोष रहित सूत्रानुसार साधुजन से माननीय उत्तम भाषाका ग्रहण करना ।

एषणा—सर्व दोष रहित, शुद्ध, और विना मांगा आहार करना ।

आदान निक्षेपण—शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र और उपकरण आदि को पहले भले प्रकार देखना फिर उसे उठाना वा रखना तथा उसे बड़े यत्न से लेना वा धरना ।

उत्सर्ग—जीवरहित पृथिवी पर मल मूत्र श्लेष्मादि को बड़े यत्न से प्रमादरहित और सावधान होकर डालना वा गिराना ।

मनोगुप्ति—राग द्वेष छोड़कर मन को स्वाधीन करना और समताभाव में स्थिर रखना तथा सिद्धान्तसूत्र की रचना में सदा लगाए रहना ।

वचनगुप्ति—वाणी वा वचनों को भले प्रकार वश में करना तथा सर्वथा मौन धारण करना।

कायगुप्ति। शरीर को स्थिर करना तथा परीषह आने पर भी पर्यंकासन से न डिगना।

श्रीशुभचन्द्राचार्य महाराज कहते हैं कि पांच समिति और तीन गुप्ति ये आठों संयमी पुरुषों की रक्षा करने वाली माता हैं तथा रत्नत्रय को विशुद्धता देनेवाली है। इन से रक्षित मुनि दोषों से लिप्त नहीं होते।

पर्युषण-पर्व ।

पर्यूषणकी प्रार्थना।

हे जैनोंके अंतरंगमें छुपे हुए परमेश्वर !

अब तूँ अपना सत्य स्वरूप प्रगट कर । तूं सर्वशक्तिमान होने पर भी डरपोक, खुशामदी, संकुचितवृत्तिवाला, भ्रमित एवं अज्ञानमें आनंद मानने वाला हो गया है । अतएव कुछ तो शर्मिदा हो । और तेरी ईश्वरीय खानदानीको बट्टा लगानेवाली बनावटी क्षमावनीके बदले निःस्वार्थ जनसेवाका व्रत लेकर प्राय-श्चित्त कर। और तेरा ज्ञान, चारित्र एवं वीर्यमय तेजस्वी स्वरूप धारण कर। तुझ परमेश्वरको प्रकाशित करनेके लिए दूसरे किस परमेश्वरकी प्रार्थना आवश्यकीय है ? तूं ही अपनी सहायतासे आस-पासकी मर्यादाकी सांकलोंको एक महावीरके समान तोड़कर फेंकदे और अपना दिव्य स्वरूप प्रगट कर।

वाडीलाल मोतीलाल शाह।

समर्पण ।

सदा विभावोंमें अनुरंजित रहनेवाले
स्व-पर भेद-विज्ञानसे रहित, जड़त्वमें
भूले हुए, अपने प्यारे जैनबंधुओं-
के कर कमलोंमें उनकी
हितकामनासे सादर
समर्पित ।

निवेदन.

हमारे जैनी भाई प्रायः प्रत्येक वर्ष पर्यूषण पर्वको मानते हैं। परतु इस पर्वका भाव समझने वाले बहुतही कम व्यक्ति है। ऐसे व्यक्तियोंके हितार्थ यह छोटीसी पुस्तिका प्रकाशित कर जैन बाधवोंसे निवेदन करते है कि वे इससे लाभ उठावें और अपने महापर्वको सच्चा पर्व बनानेका प्रयत्न करें। इस पुस्तकके पूर्वाश लिखने में हमें जैनहितैच्छुके सपादक श्रीयुक्त वाडीलाल मोतीलालजी शाहके " पर्यू-षणपर्व अथवा पवित्र जीवन नामक लेखसे जोकि जैनहितैछु के विशेषाक में प्रकाशित हुआ है बहुत कुछ सहायता मिली है। अतएव हम उक्त महोदयके आभारी है।

लेखक—

पर्यूषण ।

जैनसमाज इस पर्वको बहुत प्राचीन कालसे मानता आरहा है। सब पर्वोंमें यह पर्व महापर्व माना जाता है। आज इस पर विचार करें कि यह पर्व क्यों मानना चाहिये। इसके माननेमें यह हेतु देनेसे कि अति प्राचीन कालसे इसकी मान्यता है, अथवा लाखों मनुष्य इसे मानते है, अथवा हमारे यहा इसके माननेकी आज्ञा है इत्यादि। इस महा पर्वकी श्रेष्ठता पवित्रता एव मान्यता सिद्ध नहीं हो सकती और न जैनधर्मानुसार कोई परीक्षा-प्रधानी इन हेतुओंसे मान ही सकता है, और न जैन धर्म ही ने विना उपयोगिता व सार्थकताके किसी बातको प्रचलित की है। बात केवल यह है कि हम उन भावोंको भूल गये हैं जिनके आधारपर हमारे पर्वोंकी भित्ति खडी की गई थी। अब पर्वोंको हमने केवल रूढिका रूप दे रखा है। अमुक दिन अमुक क्रिया ही करना चाहे उसमें हमारे परिणाम लगें या नहीं दूसरी क्रिया नहीं करना भले ही उसमें हमारे परिणाम अधिक समय तक शुभ रूप क्यों न रहें—बस यही उद्देश्य हमारे पर्वोंका रह गया है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि वर्तमानमें हमारे पर्व बिना आत्माके कलेवर रह गये हैं उनमेंसे आत्मा—पर्वोंका उद्देश्य—सार्थकता निकल गई है। यही कारण है कि पर्वोंके

अवसर पर जैसा कुछ जोश जैसा उत्साह और जैसी स्फूर्ति हममें होना चाहिये नहीं होती। पर्वोंका हमारे पर कुछ असर ही नहीं पडता। ओर दिनोंकी भाति वे भी आते है और चले जाते हैं। उनका कुछ भी प्रभाव हमपर स्थायीरूपसे नहीं जमता। हम बराबर कई वर्षोंसे देख रहे है और सब अनुभवी पाठक देखते होंगे कि प्रतिवर्ष कुछ न कुछ उत्साह कम होता जा रहा है। जो पाच वर्ष पहिले इस पर्यूषण पर्वके दिनोंमें देखा जाता था वह अब नहीं है, और यदि हमने इसका प्रयत्न नहीं किया तो विश्वास रखें कि वह समय बहुत शीघ्र आवेगा जब कि इस उत्सवकी विशेषता कुछ भी शेष न रहेगी। और यह ठीक भी है, कि जब तक किसी कार्यकी उपयोगिता सार्थकता एवं उसका भीतरी मर्म समझमे नहीं आजाता तब तक रूढीके कारण वह कार्य भले ही जनसमुदाय करे पर उतने प्रेम और जोशसे वह नहीं कर सकता जितनेसे कि वह कार्य किया जाना चाहिये। और यही कारण हमारे पर्वोंकी मान्यतामें अनुत्साह उत्पन्न होनेका है। आज हम इस पुस्तक द्वारा इसी विषय पर विचार करनेका प्रयत्न करेंगे कि पर्यूषण पर्वमें क्या उपयोगिता है ? वह सार्थक क्यों है ? और इस पर्वके माननेसे हमें क्या लाभ है ? पर्यूषण शब्द देखनेसे तो संस्कृत भाषाका शब्द मालूम होता है पर असल में यह संस्कृत भाषाका शब्द नहीं है, किन्तु प्राकृत पज्जूषण शब्दका अपभ्रंश है। पज्जूषण शब्दका संस्कृतमें अनुवाद पर्युपासना होता है जिसका कि अर्थ है उत्कृष्ट उपासना—उत्कृष्ट भक्ति अथवा आत्मोपासन—आत्ममयता—आत्म-

स्थिरता–आत्मैकता। अर्थात् आत्मभावका निरन्तर ध्यान करना, आत्ममय होजाना, विभावोंसे पराङ्मुख रहना, मन बचन कायको विभावोंमें न जाने देकर आत्माभिमुख करना इसे कहते हैं पर्युपासना–पर्यूषण–पज्जूषण। यद्यपि आत्माके लिये आत्मिक जीवन सहज है, क्योंकि वह उसका स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है वह उसके लिये सहज होता है, तो भी आत्मा के सहवासमें जो तैजसादि शरीर निरंतर रहते हैं और जो सदा अपने स्वभाव रूप परिणमन करते रहते हैं उनका आत्मा से गाढ़ संबंध होने के कारण वह (आत्मा) शरीरोंके स्वभाव को अपना स्वभाव समझता है, उसे निज स्वभावका स्मरणही नहीं होता। जिस प्रकार गणिकाके निरंतर सहवास में रहनेवाला स्व स्त्रीका कदाचित् ही स्मरण करता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीरोंके सहवासके कारण अपने स्वरूपको भूल जाता है और फिर उसे बड़े प्रयत्नोंसे अपने स्वरूपका स्मरण होता है। इस पर से तीन बाते निकलती हैं एक तो यह कि (१) स्वभाव में रमण करना यह स्वभाविक होने के कारण सहज है (२) परंतु विभावों के निरंतर सहवाससे और उनमें अपने जीवनके बहु भागको व्यतीत करता है (३) इससे आत्माको दु:ख भोगना पड़ता है, जिस प्रकार कि हवामें उडनेके स्वभाववाला पक्षी यदि सरोवरमें मछलीके संग रहने लगे तो उसे दु:ख होता है। यद्यपि मछली और पानी दु:ख रूप नहीं है और न जगत में दु:ख कोई पदार्थ है, केवल स्वभाव विरुद्ध प्रवृत्तिसे जो विचारों का अनुभव होता है

वही दुःख है । दुःख कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो कि चिपट जाता हो, परंतु अमर्यादित स्वभाववाला आत्मा मर्यादित शरीरमें रहनेके कारण स्वभाव विरुद्ध पदार्थोंकी संगतिसे दुःख का अनुभव करता है । दुःख और सुख ये दोनों कल्पना है—नाम मात्र है । अतएव दुःखसे छूटनेका उपाय स्वभावका स्मरण होना—स्वभाव में रमण होना ही है । हम पहिले ही कह आये हैं और फिर भी जोर देकर कहते है कि स्वभावमें रमण होना जितना कि हम कठिन समझ रहे है कठिन नहीं है। बात केवल यही है कि उसके अभ्यास टेव—आदत की जरूरत है । अभ्यास को दुर्घट, अशक्य, दुःसाध्य जो भी समझो पर अभ्यास पड़ जाने पर अभ्यास का लक्ष्य कठिन नहीं रहता । पानी में डुबकी मारने का काम पहिले पहिले रुंध कर मरजाने के समान प्रतीत होता है पर अभ्यास पड जानेपर वही काम आनंददायक हो जाता है । योगियोंको शहरोंके भपके अच्छे नहीं लगते, जबकि एकान्त वास जोकि हमें अरुचिकर है उन्हें आनंद-दायी प्रतिभासित होता है । कहा जाता है कि एक शहरमें घंटा-घर के पास एक पागल रहा करता था और वहा जब जब घड़ीके घंटे बजते तब तब वह उन्हें गिना करता था । एक बार घड़ी बिगड़ गई और उसने घंटे की आवाजें देना बंद कर दीं परतु वह पागल सदा की भांति प्रति घंटेपर गिनता ही रहा । इन सब बातों से मि. बेकनका यह कहना कि “ जो चीज पहिले अपने को नापसंद और कठिन मालूम होती है वही चीज उससे अधिक परि-चित होने और अभ्यास पड़नेपर इतनी आनंददायी हो जाती है कि

उसके समान कोई दूसरी वस्तु आनंदप्रद नहीं दिखती" ठीक है। मनुष्य स्वभावका यह गुप्त रहस्य जिसे समझ में आजाता है उसे एक प्रकारका आश्वासन मिल जाता है और वह आत्मिक जीवनको कठिन न समझ उसके अभ्यास का प्रयत्न करता है और इसी अभ्यास के लिये जगत के निष्कारण बंधु तीर्थंकरोंने इस पर्यूषण पर्व का प्रचार हमारे लिये किया है। पर्यूषण पर्व-आत्मिक जीवन का अभ्यास कराने का एक पाठ है—पाठशाला है। वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिनों तक विभावों की वायुमें चक्कर लगानेवाले मनुष्य को इन दस दिनों में स्वाभाविक जीवन का परिचय करानेके लिये इस पर्व की योजना की गई है। इन दस दिनोंमें जिस प्रकारके जीवन निर्वाह करने का मार्ग हमें बताया गया है यदि उस प्रकारका जीवन निर्वाह करनेका हमारा स्वभाव हो जाय तो हम मनुष्य कृतकृत्य हो जावें। यह हमारे पर्यूषण पर्वका भाव है। अर्थात् जिन दिनोंमें हम हमारे स्वरूप का अवलोकन करनेका अभ्यास करें वह पर्यूषण पर्व है। हमें इस पर्व में उन क्रियाओंको करना चाहिये जिनसे हमें अपने स्वरूपके अवलोकनमें सहायता मिले। अब देखना यह है कि क्या हम इस पर्वमें उक्त उद्देश्यकी सिद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं? क्या हमारी क्रियाएं हमें पर्यूषणके लक्ष्य बिंदुकी ओर पहुचा सकती है? यदि पहुंचा सकती हैं तो क्या हममें ही कोई खामी है, जोकि हम क्रियाओंको करते हुए भी लक्ष्य तक नहीं पहुचते? और यदि खामी है तो क्या? यदि क्रियाओंमें ही खामी है तो वह क्या है? और उसका सुधार कैसे हो सकता है? इसे तो कोई भी

विना माने न रहेगा कि इस पर्वमें हमारे यहा जो जो क्रियाएं प्रचलित है वे बड़ी ही उपयोगी और सार्थक है यदि उनका दुरुपयोग न किया जाय तो, इन दश दिनोंमें हमारे यहाँ कई प्रकारके व्रत पालन करने की प्रथाएं है। अर्थात् कोई पुष्पांजलि, कोई दशलक्षण, कोई रत्नत्रय, कोई अनंतचतुर्दशी और कोई षोड्शकारण व्रतका पालन करता है। इन व्रतोंकी सार्थकता इनके नामोंसे ही प्रतीत होती है। अर्थात् अमुक दिनोंमें अमुक समय तक मन, वचन कायकी प्रवृत्तिको विभावोंसे रोकते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी भावना करना—निरतर बिचार करना, इनके समीपवर्ती होनेका प्रयत्न करना रत्नत्रय व्रत है। इसी प्रकार दश दिनो तक मन, बचन कायकी प्रवृत्तिको विभावोंमें जानेसे रोक क्रोध, मान, माया, लोभसे बचना, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्यरूप आत्माके स्वभावमें लीन रहना दशालाक्षणिक व्रत है। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत सोलह भावनाओका बिचार करना षोड्शकारण व्रत है। इन व्रतोंके लाभोंको स्पष्ट करनेकी तथा यह दिखला देनेकी कि इनके पालनसे हम कैसे आत्मस्मरण कर सकते है? कैसे स्वभावमय हो सकते है? अथवा कैसे अपना जीवन उच्च बना सकते है? इसको जाननेकी यहाँ विशेष जरूरत है, अतएव इनपर कुछ विचार किया जाता है।

षोड्शकारण—सोलहकारण वे सोलह बातें है जो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करानेमें कारण मानी गई है। इसीसे इन्हें सोलह-

कारण—षोड़शकारण कहते है। सोलह बातोंका चिंतवन, मनन, पालन एवं इन रूप होनेको षोड़शकारण व्रत कहते है । वे सोलह कारण—सोलह भावनायें इस भाति है,—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनय-सपन्नता, ३ शीलव्रतोंका निरतिचार पालन, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ त्याग, ७ तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्य, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति १२ उपाध्यायभक्ति, १३ प्रवचन-भक्ति, १४ आवश्यकोंका पालन, १५ मार्गप्रभावना, १६ वात्सल्य इन १६ बातोंका मन, बचन, कायकी एकाग्रतापूर्वक अर्थात् मन वचन कायको विभावोमें न जाने देकर शक्तिअनुसार काय क्लेशपूर्वक बार बार चिन्तवन करना षोडशकारण व्रत कहलाता है। यहाँपर इन सोलहों कारणों पर प्रथक् प्रथक् बिचार करके यह दिखलानेका प्रयत्न करते है कि इनसे किस प्रकार स्वभावकी ओर आत्माकी प्रवृत्ति होती है ।

दर्शन विशुद्धि.

पहिले कह आये है कि षोडश भावनाओंसे—उक्त सोलह बातों से तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है—आत्मा उस स्थितिको प्राप्त होता है जिसकी उच्चता सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणियोंसे बढी चढी है, जिस-के द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌का हित होता है, जिसके आगे राजा महाराजा देव इन्द्र आदि नतमस्तक होते है, जिसमें आत्माका पूर्ण विकाश होकर वह सर्वज्ञत्वको प्राप्त होता है। प्रकृतिका यह नियम है कि वह कोई कार्य तड़ाक फड़ाक नहीं करती उसके राज्यमें सब कार्य क्रमशः होते है—सिलसिलेसे होते है। हमें जिस लक्ष्यका वेध करना

है प्रकृतिके नियमानुसार उस लक्ष्य की ओर हमें धीरे धीरे गमन करना होगा उसके अनुरूप अपने आपको बनाते जाना होगा तब कहीं हम लक्ष्य-बेध कर सकेंगे। इसी तरह जिस आत्मा को तीर्थंकर की महान् आत्मा बनना है, जिसे सर्वज्ञत्व प्राप्त करना है, जिसे कर्म-मलको दूर करना है, जिसे जगत् को हित का मार्ग बताना है, ससार का तरणतारण बनना है उस आत्मा को धीरे धीरे प्रकृतिके नियमानुसार अपना विकाश करना होगा और उसके लिये धीरे धीरे अपनी आत्मामें अंशाशोंमें तीर्थंकरत्व, सर्वज्ञत्व, हितकर्तृत्व गुण लाना होगा। ऐसी आत्माओंका लक्ष्य तीर्थकरत्व होता है। अतएव इस लक्ष्यका वेध करनेके लिये पूर्व भवोंमें-अशाशोंमें (चाहे वह कितने ही छोटे रूपमें क्यों न हो) तीर्थंकरत्व प्राप्त करना होगा। उसी तीर्थकरत्वका एक बहुत छोटे रूप पर सबसे पहिला अश दर्शनविशुद्धि है। जिस महान् आत्मा का ज्ञान एक दिन सम्पूर्ण चराचर पदार्थोंको देखनेवाला होगा, जिसमें किसी भी प्रकारका दोष और कोई भी भ्राति नहीं हो सकती उस आत्माको अपनी यह स्थिति प्राप्त करनेके लिये पहिले से ही अपने ज्ञान और श्रद्धानको सच्चे ज्ञान और उसपर अटल विश्वासको विशुद्ध बनाना होगा—निर्भ्रान्त बनाना होगा तब कहीं आगे जाकर वह आत्मा सर्वज्ञ हो सकेगा। इसीलिये तीर्थंकर—सर्वज्ञ होनेमें दर्शनविशुद्धि अपने सत्य ज्ञान और विश्वासकी निर्भ्रान्तता पहिला कारण माना गया है। आत्माके सच्चे ज्ञान और सच्चे दर्शन अर्थात ज्ञानमें, अटल विश्वासमें

पच्चीस बातें ऐसी है जो दोष उत्पन्न करती हैं अर्थात् सच्चा ज्ञान और सच्चा विश्वास नहीं होने देतीं, और यदि होता भी है तो जैसा चाहिये वैसा निर्भ्रान्त नहीं होता। वे पच्चीस बातें इस भांति हैः—

शङ्का—पदार्थोंके स्वरूपमें शंका (शक) का रहना कि अमुक पदार्थका स्वरूप क्या है। जब तक यह शंका रहती है तब तक किसी भी विषयका अनुभवात्मक ज्ञान नहीं हो पाता। इसके रहनेसे ज्ञानकी स्थिति डवाँडोल रहती।

अकाँक्षा—कर्माधीन, सान्त (अन्तसहित–विनाशीक) और जिनका परिपाक दुःखमय है ऐसे सासारिक सुखोंकी चाह करना। प्रत्यक्षमें जानते हुए भी कि सासारिक सुखोंका मूल्य कितना है उनकी आकाक्षा करना बतलाता है कि अभी तक आत्माका ज्ञान वह अनुभवात्मक ज्ञान–सच्चा ज्ञान नहीं हुआ जिसपर कि उसका अटल विश्वास हो। क्योंकि जिस आत्माको एक बार यह विश्वास और ज्ञान हो जाता है कि मास खाना बुरा और मानवीय गुणोंसे विरुद्ध है वह उसे छूती तक नहीं है। पर जिसे यह ज्ञान तो हो कि मास खाना अनुचित है और इससे अमुक अमुक रोगों और दोषोंकी उत्पत्ति होती है, पर वह बराबर उससे अपना संबंध रखे तो समझना चाहिए कि उसका ज्ञान अभी उतना निर्भ्रान्त नहीं है जितना की होने कि अवश्यकता है; और न उसे अपने आपके ज्ञानपर अटल विश्वास ही है। इसीसे कहते हैं कि सच्चा ज्ञान और विश्वास–जैनधर्मके शब्दोंमें कहें तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

और जहापर सासारिक सुखोंकी आकाक्षा है वहा कहना चाहिये कि अभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये आकाक्षा भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान–अथवा दर्शनविशुद्धिमें एक दोष रूप है।

विचिकित्सा–अर्थात् घृणा करना। जिसे वस्तुका स्वरूपक यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसपर अटल विश्वास हो जाता है वह घृणितसे भी घृणित वस्तुके सहवासमे रहता हुआ भी घृणा नहीं करता। परंतु जिसे इस प्रकारका ज्ञान और विश्वास नहीं हुआ है वह जरा भी दुर्गन्ध युक्त अथवा मैले घृणित पदार्थको देखता है तो नाक भौ सिकोड़ने अथवा छि: छि थु थु: करने लगता है। ज्ञानी विचारता है कि मेरे छि. छि: थु: थु: से जब कि इस पदार्थका स्वरूप बदल नही सकता तो मै क्यों अपनी आत्मामें विकार उत्पन्न करू। क्यों उसे घृणित समझकर अपनी आत्मामें घृणा भाव उत्पन्न करू ? जो घृणा करता है वह दिखलाता है कि अभी उसका पदार्थ ज्ञान अधूरा है-वह पदार्थोंके स्वरूपसे अजान है, उसका ज्ञानदर्शन अशुद्ध है।

मूढ़दृष्टि—मूढतामे मन-वचन-कायको लगाना। अर्थात् जो मत, जो विचार, जो धर्म, स्वाभाविक नहीं हैं प्राकृतिक नहीं है, जिनमें मूढता–मिथ्यापन पाया जाता है। जो वस्तु स्वभावको धर्म माननेवाले उदार सिद्धांतोंसे पृथक् है उन विचारों, उन मतों, उन सिद्धान्तोंमें मन, वचन कायको लगाना बतलाता है कि अभी इस आत्माका ज्ञान सत्यतासे दूर है, क्योंकि अभी तक इसे पदार्थोंके स्वरूपका भान नहीं हुआ है और इसीलिये यह भी शुद्ध ज्ञानका एक दोष है।

जो मार्ग—जो विचार—जो धर्म स्वयं शुद्ध है, जिसकी शुद्धता स्वाभाविक प्राकृतिक है उस मार्गकी निंदा करना अथवा निंदा होती हुई देखते भी चुप रहना—यह दोष बतलाता है कि जो अत्मा इस प्रकार करती है वह शुद्ध मार्गसे—निष्कटक मार्गसे दूर है। उसमें अभी इतना बल—ज्ञानबल और आत्मबल प्रगट नहीं हुआ जो शुद्ध मार्गका माहात्म्य प्रगट कर सके अथवा उस सच्चे मार्गकी सच्चे विचारोंकी सच्चे धर्मकी निंदा होती हुई न सुन सके और अपने ज्ञानबलसे उसे दूर कर सके। इस दोषसे दो बातें होती है। एक तो यह कि किसी मार्गकी बारबार निंदा सुननेमे उस मार्ग परसे धीरे धीरे विश्वास हटने लगता है चाहे वह कैसा ही शुद्ध मार्ग क्यों न हो। और ऐसा होनेसे-शुद्ध मार्गके ऊपरसे विश्वास हट जानेसे आत्मा की ज्ञानदर्शन विशुद्धि अपूर्ण रह जाती है। और दूसरी यह कि हम सच्चे विचारोंको भी प्रगट करनेमें असमर्थ हो जाते है। इसीलिये सच्चे ज्ञान दर्शनके लिये अनुपगूहन एक दोष मानना पडता है।

अनुपगूहन

किसी मनुष्यको सच्चे मार्गसे, सच्चे विश्वाससे शुद्धशीलसे—चारित्रसे च्युत होते देखते रहने पर भी तटस्थ वृत्ति रखना अस्थितीकरण कहलाता है। इसके होनेसे जाना जाता है कि आत्मामें अभी वे उच्च और शुद्ध भाव नहीं हुए है जिन के कि द्वारा हम च्युत होते हुए को बचावें। अथवा हम में शुद्धमार्ग पर-

अस्थितिकरण

अभी वह श्रद्धा नहीं है जिसके कि कारण हम दूसरेको अशुद्ध मार्गपर जाने से रोकें क्योंकि जबतक हमको श्रद्धा है:कि लक्ष्य-वेध करनेका मार्ग अमुक है दूसरा नहीं तो हम फोरन अपनेको व अन्य जगत्‌वासियों को भी सम्हाल सकेंगे और उसी शुद्ध मार्ग पर लासकें गे। पर जब कि हमको यह श्रद्धा हो कि अमुक मार्ग है और शायद अमुक भी हो तब तक हम किसीको भी शुद्ध मार्गमें न तो लाही सकते और न उनकी उस मार्गमें स्थिति ही कर सकते है। अत-एव यह दोष दिखलाता है कि आत्मामें अभी सन्मार्गके जानने और उस पर विश्वास करनेकी बड़ी भारी कमी है।

अवात्सल्य अपने समुदायमें, समाजमें, सह विचारियोंमें, अथवा सहधर्मियों-में आदर सत्कार और प्रेम रूप भावका न होना। इस दोषका प्रतिपक्षी जो वात्सल्य गुण है वह विश्वबंधुत्वके उदार भावों युक्त आत्माको बनानेकी पहिली सीढी है। मनुष्यका कर्तव्य है कि उदार बने और उस उदारताका कार्य वह अपने कुटुम्बपरसे प्रारभ करे। अर्थात् पहिले कुटुम्बको सुखी करनेकी ओर अपना ध्यान लगावे। उसके लिये अपने भोगोंका त्याग करे। उनके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी बने। उसके बाद जातीय उदारतासें आगे बढ़े अर्थात् जिस जाति, जिस कुलमें जन्म लिया है उसके सुख दु.खकी परवाह करे। फिर आगे बढ़कर सहधर्मियोंमें उदार भाव रखे। यहाँसे विश्व प्रेमका पाठ प्रारभ होता है। क्योंकि सहधर्मियोंमें, सहविचारियों में, शुद्ध दर्शन-ज्ञानके धारियोंमें फिर जाति और कुलका भेद

नहीं होता, वहाँ तो सहधर्मीभाव और उस भाव प्रति अखंड निर्मल प्रेम होता है । यही विश्वबंधुत्व--तीर्थंकरत्वके एक गुणकी पहिली सीढी अथवा हितोपदेशी गुणका एक सूक्ष्मरूप है। यदि यह गुण न हो, अपने सहधर्मी–सहभावियों में आदर सत्कार और प्रेम न हो तो वह एक दोष हैं, जो दिखलाता है कि आत्माके ज्ञान दर्शनमें अभी खामी है, जोकि हममें उदार भाव, प्रेमभाव नहीं होने देती–एक साथ बैठनेवालों, एकही विचार के विचारकों, एकही धर्मके अनुयायियोंमें प्रेम बुद्धि उत्पन्न नहीं होने देती । यदि हमारा ज्ञान, दर्शन, सत्य ज्ञान और सत्य विश्वास निर्दोष है तो क्या कारण है कि हममें वह प्रमोद भावना, वह गुण प्रेम और सत्य प्रेम उत्पन्न नहीं होता जिसके कि द्वारा सत्य ज्ञान और सत्य विश्वास वालों अथवा इनके मार्ग पर चलने वालोंको अपनेही समान सत्य जिज्ञासु समझ उनका आदर सत्कार कर सक्ते है । अत: यह दोष दिखाता है कि हमारे ज्ञानमें अभी कुछ कीट–मैल शेष है ।

अप्रभावना. अज्ञानाधको दूर करनेका प्रयत्न न करना । इसके विरुद्ध जो प्रभावना है उसका कार्य है कि अज्ञानको दूर कर सत्यज्ञानको–जिन शासनके महात्म्यको जैसे भी बने कितनेही विघ्नोंके आपडने पर भी प्रकाशित करना प्रभावना गुण है । और अप्रभावना दोष है। प्रभावनाके न करनेसे ज्ञात होता है कि आत्माका ज्ञान अभी सत्यज्ञान और सत्य विश्वासके रूपमें परिवर्तित नहीं हुआ। क्योंकि सत्य प्रेमी, सत्य ज्ञानी विघ्नोंकी परवाह करके सत्यके

प्रकाशनमें सत्य मार्गका प्रचार करनेमें नहीं रुकता । वह विघ्नोंके लिये नहीं ठहरता, किंतु सत्यमार्गको निष्कटक बनाता हुआ अगाड़ी बढ़ता जाता है और अज्ञानको दूर करता जाना है। क्योंकि जिस आत्माको एक दिन उस दर्जेका महात्मा होना है जिसके कि आगे कोई भी छद्मस्थ नहीं ठहर सकेगा, जिसके कि मानस्तंभको देखते ही ज्ञान मद-धारियोंका मद खर्व होजाता है। जिसका ज्ञान-सत्य ज्ञान, शुद्धज्ञान, अखड एव निर्मल ज्ञान होनेवाला है वह विकाशके आरम्भ में सत्य ज्ञानके विरुद्ध अज्ञानका प्रचार कैसे देख सकता है, और जो देख सकता है तो समझना चाहिये कि उसकी आत्मा उस महालक्ष्यके-तीर्थंकरत्वके सन्मुख नहीं है और उसके सत्य ज्ञान-दर्शन में कुछ न्यूनता है ।

ऊपर जिन आठोंका वर्णन किया गया है वे आठ दोष है। इन दोषोंके होनेसे आत्माके ज्ञान-दर्शन में क्या खामी होती है, क्या अपूर्णता रहती है यह ऊपर संक्षेपसे बता आये है । यहाँपर इन आठोंके विरुद्ध जो आठ गुण है उनसे ज्ञान-दर्शनकी विशुद्धतामें क्या सहायता मिलती है और उनसे आत्माके उच्च गुण कैसे विकसित हो जाते है यह दिखा देना उचित प्रतीत होता है—

१ **निःशांकित**—इस गुणसे आत्माका ज्ञान निर्भ्रान्त, शंका रहित और शुद्ध होता है तथा अपने शुद्ध ज्ञानपर अटल विश्वास होता है। और वह ज्ञान अनुभवात्मक ज्ञान होता है । सम्पूर्ण सत्यज्ञान-सर्वज्ञत्वके विकसित होनेकी पहिली सीढ़ी आत्माके प्राप्त सत्यज्ञानका शंकारहित निर्भ्रान्त होना है ।

२ **निःकांक्षित**—संसारके क्षणिक सुखोंकी चाहको रोकना। भविष्यमें जाकर जिस आत्माको इच्छा निरोध करना है, द्रव्यमन और भावमनका नाश करना है, इनकी चंचलतासे छूटना है उसे अभीसे—पहिले भवोंसे ही आकांक्षाओंको दबाना होगा जब कहीं मनकी चंचलतासे आगेके भवोंमें वह आत्मा विनिर्मुक्त होगी। तथा यह गुण जभी होगा जबकि आत्माका ज्ञान और उसपर अटल विश्वास सत्य होगा। क्योंकि जबतक श्रद्धानपूर्वक संसारके अन्य पदार्थों और आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ तबतक कोई भी आत्मा संसारके सुखोंकी आकांक्षासे नहीं बच सकता। अतएव यह गुण आत्माके शुद्ध दर्शनज्ञानका नमूना है।

३ **निर्विचिकित्सा**—घृणाका न होना। इस गुणके होनेसे एक तो आत्माके ज्ञानकी यह शुद्धता ज्ञात हो जाती है कि इसे पदार्थों के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो गया है। दूसरे उसमेंसे घृणा निकल जानेपर कैसे भी घृणितसे घृणित प्राणियोंकी सेवा करनेमें नहीं हिचकिचाता और उसका आत्मा घृणाभावोंको भूलकर प्रेम भावोंका स्थान हो जाता है। इसी महागुणका वह अंतिम विकास है जिसके कि कारण महाआत्माकी महासभामें पशु पक्षी, आर्य म्लेच्छ, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र बिना किसी प्रकारकी रोक टोकके, बिना एक दूसरेसे घृणा और द्वेष किये आकर बैठ सकते हैं, हितकर सकते है और जिन्हें अपना स्वभावसिद्ध द्वेषभाव महाआत्माकी स्थिति तक भूल जाना पड़ता है।

४ **अमूढ़ दृष्टि**—मूढ़भावोंमें—अशुद्ध असत्य भावोंमें मन वचन कायकी प्रवृत्तिका न करना। यह गुण जिस आत्मामें होता है

समझ लो वह आत्मा सत्यका जिज्ञासु, सत्यका विश्वासी, सत्यकी सगतिवाला और सत्यका ही पक्षपाती है। उसका ज्ञान भी सत्य है। विश्वास भी सत्य है। उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान होगया है। ऐसी आत्मा कभी मूढ़ भावोंमें अनुरजित नहीं होता न कभी मूढ भावोंकी प्रशंसा करता और न उनमें अपनी सम्मति ही प्रकाश करता है, वह सत्यका जिज्ञासु, सत्यका प्रकाशक, सत्यकी मूर्त्ति, और सत्यका उपासक रहता है। वह कभी भी, कैसे भी सकटोंके उपस्थित होनेपर भी कैसी ही भयकर स्थितिमें रहनेपर भी सत्यसे-सत्यमार्गसे नहीं हटता। वह कभी मूढतामें अपनी किंचित्मात्र भी सम्मति प्रकाशित नहीं करता। इस गुणसे आत्माको सत्याभिरुचि, सत् ज्ञान और सत् विश्वास प्रगट होते है जो उस महास्थितिके लक्ष्य रूप है जिसमे आत्मा सत्यमय हो जानेवाला है।

५ **स्थितिकरण**—सत्यज्ञानसे, सत्य दर्शनसे, सत्यचारित्रसे च्युत होनेवाले प्राणियोंको सत्यमार्गमे स्थित करना है–वह स्थितिकरण गुण है। यह आत्माके उस हितोपदेशी गुणका एक सूक्ष्म रूप है जिसके कि द्वारा वह प्राणी मात्रको सच्चा ज्ञान, सच्चा विश्वास और सच्चे चारित्रमे एक दिन लीन करेगा। इस महागुणका प्रारभ स्थितिकरण गुणसे वह करता है और एक दिन हितोपदेशी अवस्थाको जो कि ईश्वरत्वका एक गुण है प्राप्त करता है। दूसरे यह गुण यह भी बतलाता है कि इस गुणसे युक्त आत्माको सत्यमार्गका विश्वास हो गया है-दर्शनज्ञान हो गया है, जिस परसे कि वह सत्यमार्ग और असत्यमार्गका निश्चय करता है, और उस सत्यमार्गसे स्खलित होनेवाली आत्माओंको बचाता है।

इस गुणसे युक्त आत्मा मूर्ख द्वारा की हुई सत्यमार्ग की निंदा तक नहीं सुन सकता । वह उस निंदाको

उपगूहन

अपने सत्यज्ञान–दर्शनके प्रभावसे दूर करता है । सत्यमार्गकी–सत्यज्ञानकी निंदा सुनना उसकी दृष्टिमें आत्म-अपमान है–आत्माका लाइविल है । इस गुणसे आत्मामें सत्यका दृढ़–अखंड प्रेम उत्पन्न होता है । जो उसे भविष्यमें दृढ़ निश्चयी, सत्यज्ञानवाला, निर्भय और जगत्पूज्य बनाता है ।

वात्सल्य सहधर्मियों, सत्य ज्ञानियों, सत्यविश्वासवालोंका आदर सत्कार करना उनसे प्रेम करना यह गुण आत्मामें विश्वबंधुत्वका उदारभाव उत्पन्न करता है । विश्वप्रेमका यह संक्षेप रूप है, गुण ग्राहकताका पाठ है, गुणकी जिज्ञासा उत्पन्न करनेका मार्ग है । इस गुणसे आत्माकी विशालता और गुण ग्राहकता प्रगट होती है जिनसे कि वह स्वय एक दिन गुणोंका समूह वन जाता है । नीतिकारका यह कथन कि यदि तुम किसीसे अपना सन्मान कराना चाहते हो तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उसका सन्मान करो । इसी प्रकार यदि कोई आत्मा चाहती है कि वह सम्पूर्ण गुणोंका स्वामी हो और सम्पूर्ण गुण वाले उसे अपना आदर्श मानें तो उसका सबसे पहिला कर्तव्य है कि वह उन गुणवालोंही में–सत्यगुणके जिज्ञासुओंमें, सत्यमार्ग पथिकोंमें, सत्यज्ञानके मार्ग पर विश्वास करनेवालोंमें आदर और प्रेम भाव रखे ।

अज्ञानांधकारको हटाकर सत्य ज्ञान–दर्शनका महात्म्य प्रगट करना। इस का लक्षण भगवान् समन्तभद्र करते है

प्रभावना

" अज्ञानतिमिरव्याप्ति मपाकृत्य यथायथ। जिन शासन माहात्म्य प्रकाशःस्यात् प्रभावना। " अर्थात अज्ञान अंध-कारके विस्तारको जिस तरह भी बने दूर करके जिनशासनके महा-त्म्यका–सत्यमार्गके महात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना कहलाती है। इस गुणसे आत्मा भविष्यमें समवशरणसी महासभाका स्वामी बनता है जिस में कि वह सत्यमार्गका प्रकाश और अज्ञानका नाश करता है। उस महाशक्तिका प्रभावना एक सूक्ष्म रूप है। यहगुण दि-खलाता है कि अज्ञान अंधकारसे व्याप्त जगत्को देखकर इसके हृ-दयमें चोट लगी है और यह एक दिन सर्व विशुद्ध ज्ञानके प्रचारकी उत्कट इच्छा रखता है, और उसीका पूर्वरूप है जो वह प्रभावनाके रूपमें कर रहा है। सत्य ज्ञान दर्शनवाला आत्मा अज्ञानके दूर करने में विघ्नोंसे नहीं डरता उनके लिए नहीं ठरहता, किंतु अपने सत्य ज्ञान-दर्शनसे आगे और आगे बढता जाता है। इस गुणका लक्षण बाधनेमें भगवान् समन्तभद्रने जो ' यथायथ ' शब्द दिया है वह इस गुणकी धारक आत्माकी ओर भी विशालता प्रगट करता है। अर्थात् यह शब्द ही दिखलाता है और जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि ऐसी आत्मा सत्यज्ञानका प्रकाश जैसे भी बने करनेमें नहीं हिच-कता। इस गुणके न होनेसे प्रतीति होजाती है कि आत्मा डरपोक है निर्भीक नहीं है, उसे सत्य पर अभी पूर्ण विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि अज्ञानको सन्मुख फैला हुआ देखते रहने पर भी, सत्यका खून होते हुए

भी वह आगे नहीं बढ़ता और उस अंधकारको दूर नहीं करता। ऐसी आत्मायें भविष्य में विकसित नहीं होती।

इस प्रकार ये आठ गुण हैं जिन्हें सत्य ज्ञान और सत्य दर्शन रूप सम्यक्त्वके अंग माने गये है। अर्थात् मनुष्य शरीरके जिस प्रकार हाथ पाँव, कान नाक आदि आगोपाग होते हैं और शरीरको गमनागमनादि क्रियाओंमें सहायता देते हैं उसी प्रकार सत्यज्ञान और सत्यविश्वास के ये आठ अंग हैं जो उसके विकाशमें सहायक है। ये किस तरहसे सहायक है और इनकी सहायतासे किस प्रकार आत्माके सत्य ज्ञान-दर्शनका विकाश होता है यह हम इनके पृथक् पृथक् संक्षेप वर्णन में दिखला चुके हैं। इनके विरुद्ध वे आठ दोष हैं जिनका वर्णन हम इनसे पूर्व कर चुके है उनसे हमारी आत्माका विकाश किस प्रकार रुकता है इसे भी हम दिखला चुके है।

ऊपर कह आये है कि सत्य ज्ञान दर्शनमें दोष उत्पन्न करने वाली पच्चीस बातें है उनमें से आठ दोष ऊपर कह चुके है शेष सत्रह इस भाति है:—

आत्मा का कुल कोई है ही नहीं वह अनादि अनंत है।

कुल-मद — कर्मोंके कारण जो वह संसारमें जन्म मरण कर रहा है उसकी अपेक्षा उसके माता पिता भाई बंधु होते है। पर असलमे उसका उत्पादक और विनाशक कोई नहीं है। ऐसा सत्यज्ञान—दर्शनवाला आत्मा कभी कुलका मद नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि मै अमर्यादित शक्ति वाला हू। मेरा स्वरूप अजर, अमर, नित्य

है। मुझे कोई बंधन रोक नहीं सकता। मेरा असल स्वरूप बंध रहित है। ऐसा जानकर वह पिता, भाई आदिके कुलका मद करके अपने को मर्यादित और बंधनयुक्त नहीं बना सकता। क्योंकि ये सब कुटुम्बादि बेड़िया है। इन बेडियोंका अभिमान करना वह अपना अपमान समझता है। जैसे कि एक कोट्याधीश मनुष्य अपनेको लखपतियोंमें नहीं गिनवा सकता अथवा गिने जाने पर अपना अपमान समझता है इसी तरह अमर्यादित शक्तिवाला आत्मा कुल की मर्यादित सीमाको पाकर अभिमान नहीं कर सकता। और ऐसा अभिमान करना उसे अपना अपमानसा मालूम होता है, परंतु जिसने आत्माके सत्य स्वरूपको, संसारको, संसारके निमित्तों को नहीं जाना है वह कुलका अभिमान करने लगता है और यह अभिमान ही उसकी प्रगतिमें बाधक हो जाता है। क्योंकि उसकी दृष्टिके आगे प्राप्त कुलादिक ही आत्माकी अंतिमावस्था है, जभी वह उसका अभिमान करता है। क्योंकि **न भूतो न भविष्यतिकी** स्थिति प्राप्त होने पर ही अभिमान हुआ करता है।

जाति-मद

कुलके समान आत्माकी जाति भी कोई नहीं है। न वह ब्राह्मण है न वैश्य, न क्षत्री है न शूद्र न उसकी कोई जननी है और न जननी के रिस्तेदारही कोई उसके हैं। यह स्थिति है निश्चयावस्थाकी, पर व्यवहारमें सब कुछ है जाति भी है, वर्ण भी है, माता भी है, जनक, भाई आदि सब है। परंतु सत्यज्ञानदर्शन वाला आत्मा अपनी निश्चयात्मक स्थितिको ही देखता है। उसकी दृष्टि इसी लक्ष्यपर जाकर टकराती है। अतएव वह जाति पक्षादिका अभिमान

करना अपने सत्यस्वरूपको अपनी संपत्तिको ठुकरानेके समान समझता है। वह इन बंधनोंमें रहता हुआ भी अपने आपको निर्बंधन समझता है। जिस प्रकार कोई सज्जन पुरुष स्वोपार्जित कर्मके उदयसे जेलमें जाकर बेड़ियें पहनता है पर वह उन बेडियोंका अभिमान नहीं करता, बेडियोंका अभिमान उसके लिये अपमान समान है। इसी तरह अपने सत्यस्वरूपका जाननेवाला जातीयता आदि बेडियोंका अभिमान नहीं करता। ऐसा अभिमान उसकी दृष्टिमें अपमान है और सत्यज्ञानका द्योतक नहीं है। क्योंकि सत्यज्ञानी अपनी आत्माकी आत्मत्वके सिवाय कोई दूसरी जाति नहीं समझता।

बल-मद

पाहिलेका कोई बलवान् मनुष्य रोगशय्यापरसे उठने बैठनेकी ही शक्ति प्राप्त हो जानेपर क्या कभी उस थोड़ेसे बलका अभिमान कर सकता है? कभी नहीं। क्योंकि उसे तो अपने उस बलका ध्यान है जो उसकी निरोगावास्थामें होता है। इसी भांति जिस आत्माने अपने अनंतज्ञानात्मक गुणको अच्छी तरह जान लिया है तो वह क्या कर्मोपार्जित कुछ बलसे अपनेको बलवान् समझ सकता है? कभी नहीं। और यदि समझता है तो समझना चाहिये कि उसकी आत्माने सत्यस्वरूपको नहीं जाना।

ऋद्धि-मद

क्या आत्मा की ऋद्धियोंका कुछ पता है? कुछ संख्या है? अथवा उनका अंत है? नहीं। फिर अनंत ऋद्धियोंका धारक आत्मा दो, चार, छह आठ ऋद्धियाँ पाकर कैसे संतोषित हो

सकता है जो उनपर अभिमान करे। अपनी ऋद्धियोंको पूरी पाकर भी जो आत्मायें अभिमान करती हैं वे अपने विकाशके मार्गको बंद करती है, क्योंकि उन्हें वे किंचित् मात्र ऋद्धियाँ ही संतोषप्रद प्रतिभाषित होती हैं और उन पर वे अभिमान करने लगती हैं। ऐसी आत्माओंके सबंधमें सिवाय इसके क्या कहा जा सकता है कि उन्होने अपने भडारको अभी देखा तक नहीं है और इसीसे उनका ज्ञान-दर्शन अपूर्ण है।

तप-मद

तप किया जाता है आत्माके गुणोंका विकाश करनेके लिये अथवा कर्मोके नाशके लिये। यदि उसी तपका मद किया जाय—अभिमान किया जाय तो वही तप ताप हो जाता है अर्थात उससे कर्मोंका बध होता है। और जो तपविकाशके लिये किया गया था वही अभिमान करनेसे नीचे गिराने लगता है। छल, कपट, माया आदि पाशविक गुण तप मदसे आ दवाते है जिनसे आत्मा नीचे ही नीचे गिरती जाती है। अतएव तप मद एक दोप है जो आत्माके दर्शन गुणमें विशुद्धता नहीं होने देता। तप मद होनेसे आत्माको सत्य स्वरूप का भान नहीं होता, और इसीलिये वह थोडेही तपसे अपने आपको महात्मा गिनानेका प्रयत्न करने लगता है। ये प्रयत्न ही बतलाते है कि वह (आत्मा) सत्यस्वरूपसे वंचित है।

शरीर-मद

जिस आत्माका रूप निर्मल है ज्योतिर्मय है, स्फटिकके समान शुद्ध है क्या वह शरीरके घृणित, असुहावने, चर्म मास त्वचादि युक्तरूप पर मद कर सकता है? कहा जाता है कि

एक वार एक सुंदर स्त्रीपर कोई साधु मोहित होगया और उसने उस स्त्रीसे प्रणयकी याचना की। पतिव्रता स्त्रीने साधुसे अपना पल्ला छुडानेके लिये कहा कि महाराज आप अमुक दिन पधारें तबमें आपको निश्चित् उत्तर दूंगी। रूपांध साधु चला गया। इधर स्त्रीने अपने कानके पासकी फस्त खुलवा कर उसमेंसे रक्त निकलवा लिया। और उस खूनको एक पात्रमें रख छोड़ा। खून निकल जानेसे स्त्री अशक्त हो गई रूप कुरूप होगया। सुंदर आँखे बैठ गईं। निश्चित समय पर कामी साधु आया। स्त्रीने उसकी अभ्यर्थना की। साधु वार वार उस स्त्रीके मुँहकी ओर देखकर यह विचार करता था कि वह सुंदर स्त्री आज क्यों नहीं दिखाई देती जिसने कि मुझे बुलाया था। आखिर उसने पूछा कि माता जिस स्त्रीने हमारी पहिले अभ्यर्थना की थी वह कहाँ है? उसने कहा कि महाराज मै ही हूँ। साधुने कहा कि नहीं वह तो परमा सुंदरी थी, तुम तो सुदरी नहीं हो। वह रूपवान् स्त्री तुम नहीं हो सकतीं। स्त्रीने कहा कि नहीं महाराज वह मै ही हूँ और यह कह कर उस खूनके पात्रको लाकर आगे रख दिया और कहा कि यह लीजिये मेरा रूप। जिस रूप पर आप आशक्त थे वह रूप यह रखा है आप लेजाइये। साधुजी छिः छिः थुः थु करने लगे और मनमें विचारा कि हाय जिस रूप पर मै मरता था वह और कुछ नहीं घृणित पदार्थोंके ऊपरका एक आच्छादन है। सार यह है कि शारीरिक रूप रूप नहीं, किंतु घृणित पदार्थोंका समुदाय है, और आत्माका रूप शुद्ध रूप है जिस में जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते है और जिसकी ज्योतिके आगे

कोई भी प्रकाश नहीं ठहर सकता। ऐसे रूपका अभिमान न कर जो शरीरादिका अभिमान करते है वे आत्मस्वरूपसे च्युत है और उनका सत्यज्ञान-सत्यविश्वास शुद्ध नहीं है।

ज्ञान-मद ज्ञानका अभिमान करना। बिना सर्वज्ञके सबका ज्ञान अधूरा है। उस अधूरे ही ज्ञान पर जो अभिमान करता है। समझना चाहिये कि उसका वह अधूरा ज्ञान भी निर्दोष नहीं है। क्योंकि उसने अपने ही ज्ञानको सब कुछ और निर्दोष समझ रखा है जब कि उससे कई दर्जे आगे जाकर ज्ञानकी सम्पूर्णता होती है। उसकी यह भ्रान्ति है जो बतलाती है कि इस आत्माका ज्ञान निर्दोष नहीं है। अतएव ज्ञानका अभिमान एक दोष है जो सत्य ज्ञान—दर्शनसे नीचे गिराता है।

प्रभुता मद अधिकारोंका मद करना। जो मनुष्य जो आत्मा अधिकारोंको पाकर मद करती है वह अपने आपको गिरानेका प्रयत्न करती है, क्योंकि अधिकारादिकी प्राप्ति कर्मजनित है, क्षणिक है। क्षणिक अधिकारोंको पाकर जो मद करते है वे आत्माके सत्यस्वरूपसे पराङ्मुख होते है और न वे अपने स्वरूपको प्राप्त कर ही सकते है, क्योंकि उनकी आत्मामें वह गभीरता पैदा नहीं होने पाती जो उस अवस्थाका सूक्ष्म स्वरूप है, जिसमें आत्मा जगत्का स्वामी बननेवाला है। जिसे तनिक अधिकारोंपर मद हो जाता है क्या वह आत्मा उस अधिकारको पासकता है जिसके कि आगे देव, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि नमन करते है, क्योंकि जब थोड़े ही

अधिकारोंपर वह मद करने लगा है तो ऐसा महान् अधिकार पाकर वह आत्मा कैसे अपने आपको सम्हाल सकता है ! जिस प्रकार छोटेसे पात्रमें अथवा घडेमें एक बडे वर्तनका जल नहीं समा सकता, और यदि उसमें भरनेका प्रयत्न किया जाय तो वह बाहिर निकलने लगता है । इसी भांति जो आत्मा अधिकारोंपर मद करता है समझना चाहिए कि वह छोटा पात्र है उसमें जबकि छोटे छोटे अधिकारोंके समाने ही की जगह नहीं है तो जगत्पूज्यतासा अधिकार उसमें कैसे समा सकेगा । अतएव प्रभुतामद एक दोष है जो आत्माके विकाशमें उसकी अनत शक्तित्वमें बाधा उत्पन्न करता है और बताता है कि ऐसी आत्मा पदार्थोंके सत्य ज्ञानसे—अनुभवात्मक ज्ञानसे बहुत दूर है । उसने अभीतक नहीं जाना है कि आत्माका, कर्मोंका, संसारका, कर्मोंके फलका क्या मर्म है । और इसी ज्ञान दर्शनके अभावसे वह तुच्छ तुच्छ बातोंपर मद करता है ।

कुदेव-सेवा ऐसी आत्माको परमात्मा मानकर सेवा करना जो झूठका उपदेशक हो, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या विश्वास अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानका प्रचारक हो ऐसोंकी सेवा सत्य ज्ञान-दर्शन नहीं होने देता ।

कुधर्म मिथ्या विचारोंका समुदाय अथवा वस्तुस्वरूपको यथार्थ न बतलानेवाले धर्मको मानना । ऐसे विचारोंके वातावरणमें रहनेसे-ऐसे धर्मके माननेसे सत्य दर्शन और सत्यज्ञान नहीं होने पाता ।

कुगुरु ऐसे मनुष्योंको अपने गुरू मानना जो पाखंडी हों, लोभी हो, द्वेषी

हों, सत्य ज्ञानसे सत्य दर्शनसे रहित हों—यह भी दोष है जो हममें सत्यका प्रकाश नहीं होने देता। क्योंकि जिन्हें गुरु समझा जाता हो वह गुरु ही जब सत्यसे दूर है तो उसके शिष्योंमें सत्यका प्रकाश कैसे हो सकता है? कुदेवोंके मानने वालोंकी प्रशंसा करना कुधर्म मानने वालोंकी प्रशंसा करना, कुगुरु मानने वालोंकी प्रशंसा करना ये तीनों भी दोष है, जोकि आत्माको सत्यके प्रकाशसे—सम्यग्-दर्शन सम्यग—ज्ञानसे दूर करते है। क्योंकि जो आत्मा सत्यकी इच्छुक है—सत्यकी जिज्ञासु है वह जब तक मिथ्यादर्शन-ज्ञानके प्रचारकोंसे ऐसे विचारोंके फैलानेवालोंसे उपासकोंसे—मिथ्यादर्शन—ज्ञानके भक्तोंसे दूर न रहेगी तब तक वह सत्यमार्ग नहीं पा सकती। अतएव सत्यज्ञान और सत्य दर्शनके लिये हमें ये तीनों भी दोष मानना पड़ेंगे। ऊपर बताये हुए छहों दोष अर्थात् कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और इन तीनोंके माननेवाले सत्यज्ञान दर्शनके स्थान न होनेसे इनके पास सत्यका प्रकाश न मिलने से, सत्यमार्ग न मिलनेसे इन्हे अनायतन अर्थात् इन्हें सत्यके स्थान नहीं माना है।

देव-मूढ़ता

किसी भयसे, किसी आशासे, किसी लोभसे मिथ्यादर्शन ज्ञान-झूठे विश्वास और ज्ञान वालोंका आदर सत्कार करना सत्यज्ञान दर्शनके उत्पन्न होनेमें बाधा देता है। क्योंकि मिथ्यादर्शन ज्ञानवालोंका सत्कार करना एक तरहसे उनके समीपी होना है। और ज्यों ज्यों हम उनके समीपी होते जावेंगे त्यों त्यों सत्यसे हटते जावेंगे दूसरे सत्यके जिज्ञासुओं, सत्यके प्रचारकों, सत्य सिद्धान्तके बतानेवाले

शास्त्रों, सत्यके उपदेशकोंके समीपी होना होगा मिथ्यात्वियोंके नहीं तब कहीं हम सत्यको पासकेंगे।

गुरु-मूढ़ता

परिग्रह, आरंभ आदिको रखने और करनेवाले, संसारके पदार्थ ज्ञानसे रहित, रागी और द्वेषियोंको, पाखंडियोंको गुरु मानकर उनकी सेवा करना सत्कार करना गुरुमूढ़ता है। यह मूढ़ता भी आत्मामें सत्यका प्रकाश नहीं होने देती। क्योंकि गुरु एक आदर्श है, जब आदर्श ही भ्रष्ट होगा, पदार्थ ज्ञानसे रहित होगा तो उसके कारणसे उसपर श्रद्धा रखनेवाली आत्मायें भी सत्यके समीप नहीं पहुंच सकतीं। शुद्धज्ञान--शुद्ध विश्वासको किसी भी अंशमें नहीं पा सकतीं।

लोक-मूढता

जन साधारणमें फैली हुई मूर्खता, मूर्खताके विश्वास लोकमूढता कहलाते हैं। इन विश्वासोंके अनुयायि होनेसे सत्यका प्रकाश नहीं होने पाता। क्योंकि दूसरोंकी देखादेखी करना, विना जाने बूझे जनसाधारणके विश्वासोंके अनुयायि हो जाना सिवा भेड़ियाधसानके क्या कहला कसता है? प्रायः जगतमें कई रीतियाँ धर्मके नामसे ऐसी प्रचलित हैं जिन्होंके मूल--जड़में कुछ भी तथ्य नहीं था पर अब वे धर्मकी मुख्य क्रियाये मानीं जाती है। जैसे काशी करवट, सती होना, किसी निश्चित पर्वत परसे गिरना, ये सब ऐसी ही क्रियाओंमेंसे थीं। आत्मघात करना महान् पाप है, मनुष्यताके बाहिर है, आत्माकी कमजोरी है। उसमें लोकविश्वासके अनुसार धर्म मानना लोकमूढता कहलाती है, जोकि सत्यके मार्गसे बहुत दूर हैं और जो

सत्यके समीप नहीं पहुँचने देती। स्वामी रामतीर्थजीने एक स्थानपर कहा है कि किसी धर्मको इसलिये मत मानो कि उसके माननेवाले अधिक जनसाधारण है, क्योंकि अधिकांश लोग मिथ्या विचारोंपर विश्वास रखनेवाले होते है। रामतीर्थजीके इस भावको ही हम संक्षेप में लोकमूढता कहते है। और जहॉ मिथ्याका विश्वास होता है बताईये वहॉं सत्य ज्ञान–दर्शनका प्रकाश कैसे पहुॅच सकेगा जब तक कि वे मिथ्या विश्वासको न हटावें।

इस प्रकार पच्चीस दोष है जो सत्यका प्रकाश, सत्य ज्ञानी, सत्य विश्वासी नहीं होने देते। प्रत्येक कुछ न कुछ सत्यसे दूर रहते है और इनका सत्यसे दूर रहना ही बतलाता है कि ये सत्यके कारण नहीं किंतु विघातक है। इन्हींसे इनसे पृथक् रहकर सत्य दर्शन–ज्ञान–सम्यदर्शन ज्ञानकी विशुद्धि करना सत्यके विश्वास और ज्ञानमेंसे मैलको निकाल देना अपने ज्ञान–दर्शनको निर्भ्रान्त बनानाही दर्शन विशुद्धि है। जोकि भविष्यमें सर्वज्ञ बनाती है। अथवा दर्शन विशुद्धिही सर्वज्ञतत्त्वका सूक्ष्म रूप है। सर्वज्ञ होने वाली आत्माओंको पहिले हीसे–कई भव पूर्वसे सूक्ष्म रूपमें सर्वज्ञ होना पड़ता है तब कहीं आगे जाकर सर्वज्ञ पदकी प्राप्ति होती है और वह सूक्ष्म रूप दर्शनविशुद्धि है। पच्चीस दोषोंके ऊपर कहे वर्णनसे हमारे पाठक देख सकेंगे कि हमारे तत्त्ववेत्ताओंने सत्य से हटानेवाले कारणोंको किस तरह ढूढ निकाला है कि उनके आश्चर्यजनक वर्णनसे पता लगता है कि निःशंक ये पच्चीसों कारण सत्यके विश्वास और ज्ञानमे बाधा उपस्थित करनेवाले है। जैनधर्म पर प्रायः दोष लगाया जाता है कि वह कुगुरु, कुदेव, कुधर्म,

की जहाँ तहाँ निंदा करता दिखाई देता है वह बताता तो अपने आपको वीतरागी है पर है वह महा निंदक। पर विचारशील पाठक देख सकेंगे कि उसका ऐसा करना किसी व्यक्तिगत द्वेषसे नहीं है किंतु ससारमें सत्यके प्रकाशको फैलानेकी सुबुद्धिसे है । और जैसा कि हमने उपर बताया उसपरसे पाठक जान सकेंगे कि जैनधर्म सत्यका कितना भारी पोषक, कितना बडा भक्त और कितना उसका अनुयायि है । वह मिथ्या प्रचारके छोटेसे भी छोटे कारणकी संगति होने देना आत्माके लिये दुखदायी समझता है और इसी लिये उसने आत्माको ऊपर कही हुई पचीस बातोमे वचकर सत्यदर्शन–ज्ञान मय बननेका आदेश दिया है। क्योंकि ज्ञानदर्शन ही सुख है यही आत्माका असली स्वरूप है और असली स्वरूपको–स्वभावमयताको प्राप्त होनाही सुख है। स्वभावसे विरुद्ध विभावोंमें जाना दुःख है। आत्माको विभावोंसे बचा स्वभावमें रमण होनेके अभ्यासके लिये पर्यूपण पर्व प्रचलित किया गया है उसमें जो षोड़शकारण व्रत किया जाता है उस व्रतमें से पहिला कारण दर्शन विशुद्धि है जिसका कि संक्षेप स्वरूप हम बता चुके है उस परसे पाठक जान सकेंगे कि दर्शन विशुद्धिकी भावना किस प्रकार आत्मस्वभावमें रमण होनेका ज्ञानदर्शनमें लीन होनेका कारण है। और इसी लिये इसकी भावना करने–अभ्यास करनेके लिये पर्यूषणके दिनोंमें इसका व्रत किया जाता है अब शेषके पंद्रह कारणोंपर विचार करते है।

(२) **विनयसंपन्नता**—अर्थात् विनय युक्त होना। साधारणतया विनयी रहना तो मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। पर यहाँ पर

विनयसपन्नतासे भाव सत्य ज्ञान और सत्यज्ञानके देनेवाले गुरुका आदर सत्कार करना है। अर्थात सहृदयतासे—अंतःकरणसे सत्य ज्ञान व उनके दाता गुरुओंकी इज्जत करना चाहिये। इस व्रतसे सत्यज्ञानकी वृद्धि होती है। आत्मामें सत्यज्ञानका विश्वास दृढ होता है और उसकी प्रवृत्ति सत्यज्ञानकी ओर होने लगती है।

(३) शील व्रतोंका अतीचार रहित पालन—शील शब्दसे केवल ब्रह्मचर्य व्रतका ग्रहण नहीं किया गया है किंतु जितने कारणोंसे आत्मिक भावोंका विकाश हो उन कारणोंका इस शील शब्दसे यहा पर ग्रहण है। आत्माके भावोंका विकाश और मानवीय चरित्रका गठन जिन कारणोंसे हो सकता है उनको तत्ववेत्ताओंने बारह भेदोंमें विभक्त किया है। यहाँ पर इन भेदोंका भी वर्णन कर देना उपयोगी होगा।

(१) प्रमादसे—बेपरवाहीसे प्राणियोंको मन, वचन, काय पूर्वक कष्ट न पहुँचाना। (अहिंसाव्रत)

(२) सत्यबोलना, सत्य उपदेश देना, सत्य सलाह देना सदा सत्यके ही भक्त रहना, लोक निंदा, राज्य भय, इन्द्रिय विषयोंकी इच्छा—आशासे कभी सत्यसे न डिगना। (सत्यव्रत)

(३) जिस वस्तु पर अपना स्वत्व न हो चाहे वह चैतन्य हो या जड उस वस्तुको प्राप्त न करना और प्राप्त करने की इच्छा तक न करना (अचौर्यव्रत)

(४) ब्रह्मचर्य धारण करना। ब्रह्मचर्य शक्तिको बढ़ानेवाला आत्म विकाशका कारण और मनुष्यको प्राभाविकता के उच्चसिंहासन पर बैठा देने वाला है। मनुष्य शरीरकी रक्षा वृद्धि एव शक्ति

का कारण वीर्य है। इस वीर्यको नाश होनेसे मानवीय गुणोंका ह्रास होता है, क्योंकि आत्मा यद्यपि ज्ञानवान है परंतु सासारिक अवस्था में अपने ज्ञानका उपयोग करनेके लिये उसे शरीरकी आवश्यकता रहती है और शरीर टिकनेका उससे ज्ञानका उपयोग लेनेका कारण वीर्य है, अतएव ब्रह्मचारी रहकर वीर्यका उपयोग करना चाहिये। यदि हमारी स्थिति ब्रह्मचर्यके प्रतिकूल हो तो हमें अपना एक सहचारी बनाना चाहिये जिससे कि हमारे अन्य कार्योंमें सहायता प्राप्त होनेके साथ साथ हमारे वीर्यका भी दुरुपयोग न हो। इस सहचारीको अपना अर्धाङ्ग—अभिन्न हृदय समझना चाहिये। इसके लिये सदा अपने सुखोंका भोग देना चाहिये। अर्थात् इसे अपने शरीरका एक दूसरा भाग समझना चाहिये। (**ब्रह्मचर्यव्रत**)

(५) इच्छाओंको दबाकर किसी मर्यादामें करना और फिर उसी सीमाके अदर इच्छाओंको इस तरह फिराना कि वे मर्यादासे बाहिर न जाने पावें किन्तु और भी संकुचित होती जॉय और एक दिन इच्छा रहितावस्था प्राप्त हो। क्योंकि इच्छारहित अवस्थाही सुखका कारण है। इसलिये हमें अपनी भोगविलासकी वस्तुओंकी सीमा बाधना होगी। अर्थात् हम अपने पास अमुक परिमाणसे ज्यादह द्रव्य, मकानात, जागीरदारी आदि न रखना। इस गुणसे आत्मामें विकार भावोंकी वृद्धि होना रुक जाता है और वह विलास प्रिय नहीं बनता। (**परिग्रहत्याग व्रत**)

(६) **दिग्व्रत**—आजन्म तक भ्रमण करनेकी मर्यादा करना। अर्थात् चारों दिशाओंमें सीमा निर्धारित कर लेना कि इस सीमाका आजन्म उल्लघन न करेंगे। इस व्रतसे इन्द्रिय और मनकी

इच्छायें कम होती है क्योंकि सीमाके बाहिर वे अपनी इच्छाओंको नहीं दोडा सकता। इस लिये यह दिग्व्रत मन तथा इन्द्रियोंको वश करनेमें सहायता देता है।

(७) **देशव्रत**—दिग्व्रतसे आगे चलकर उसमें भी अपनी इच्छाओंको और भी कमती कर नियत समय तकके लिये चारों दिशाओंमें भ्रमण करनेकी प्रतिज्ञा करना देशव्रत है। अर्थात् दिग्व्रतमें जो सीमा आजन्म तक की बाधी थी उस सीमामें अब प्रतिदिन कम करना कि आज हम अमुक ग्राम तक जावेंगे। अमुक गली, मोहल्ला अथवा मकान तक जावेगे इस प्रकार प्रतिज्ञा करना देशव्रत है। यह व्रत दिग्व्रतसे एक श्रेणी ऊपर है और इसके द्वारा दिग्व्रतसे अधिक मन व इन्द्रियोंकी इच्छाओंका निरोध होता है और वे वश होती जाती है।

(८) अनर्थ दडव्रत—जिन कामोंसे कुछ प्रयोजन नहीं ऐसे निरर्थक कार्योंमे प्रायः मनुष्य अपनी शक्तियोंका ह्रास करते है। निदा, प्रशसा दुध्यान, चिता, हिंसा करनेके साधन अस्त्र शास्त्रादिक दूसरोंको देना खोटी कथाओंका करना यह सब अप्रयोजनीय है। अतएव इनको न करना अनर्थ दडव्रत कहलाता है। इस व्रतमे दो बाते है। एक तो यह कि समय इतना उपयोगी और मूल्य-वान है कि उसे विना प्रयोजनके कार्योंमें व्यय नहीं करना चाहिये। दूसरे इस व्रतसे मन, बचन काय वश मे होते है। वे खोटे—अप्र-योजनीय कार्योंमें नहीं जाने पाते-विभावों में आत्मा रजित नहीं होने पाती और उससे कर्मबंध भी प्राय: कम होता है अथवा होता भी नहीं है।

(९) **सामायिक**—मन वचन काय पूर्वक कुछ समय तक प्रतिदिन एक, दो या तीन बार हिंसा झूंठ, चोरी, कुशील, अपरिग्रह इन पाच पापोंको त्यागकर सब जीवोंसे समताभाव धारण करना सामायिक है। इस व्रतसे आत्मामें शुभ ध्यान करनेका अभ्यास बढ़ता है और दुर्ध्यानको वह छोडता जाता है तथा विश्वव्यापी प्रेमका विकाश होना प्रारभ होता है।

(१०) **प्रोषधोपवासः**—महिनेमे चार वार सोलह प्रहरका उपवास करना और उस उपवासमे आत्मध्यान, स्वाध्याय, तत्त्व चर्चा समभाव करना प्रोषधोपवास है। ध्यान रहे कि विना आत्मध्यान, तत्त्व चर्चा, स्वाध्याय आदिके किया हुआ प्रोषध उपवास निरर्थक है वह केवल लघन है। उपवासकी सार्थकता तभी है जब उसमें उक्त कार्य किये जॉय। इन बातोंसे स्वास्थ्य ठीक होनेके साथ साथ आत्माके ज्ञानका विकाश और समता भाव—मैत्री भावकी वृद्धि होती है।

(११) **भोगोपभोग परिणाम**—भोगोपभोगकी सामिग्रीका परिमाण करना। यह व्रत बिलासी—शोकीन, उड़ाऊ बनने से बचाता है। इस व्रतसे मनकी और इन्द्रियोंकी इच्छायें रुकती है और उनके रुकनेसे आत्मा भोगविलासादि से वचकर व्यवहारमें अपनी धन, शरीर आदि सपत्तिको भी वचा लेता है और परमार्थमें वह अपनी शुद्धताका विकाश करता है—निर्बलता हटाता है। क्योंकि भोगोपभोग की सामिग्री ही आत्माको निर्बल बनाती है और कर्मोंके बंधका क्रम जारी रखती है। इस व्रतसे उस सामिग्रीकी सीमा बंध जाती है जिससे कि आत्मा फिर अन्यान्य भोगविलासों में नहीं जाने पाता।

(१२) **अतिथि संविभाग**—विना किसी प्रकारके फलकी इच्छाके सुयोग्य साधु आदिको दान देना अतिथि संविभाग है। दानके सबंधमें आगे लिखेंगे।

इस प्रकार बारह प्रकारके चारित्रोंके निर्दोष पालन करनेसे आत्मामें शुद्धताका विकाश होता है। विकार भावोंका नाश होता है उसका अभ्यास स्वभावमय होता जाता है। क्योंकि उसके द्वारा अब दूसरोंको दुःख देनेकी क्रियायें, छल कपट माया लोभादि कषाय, दूसरेका स्वत्व छीननेकी राक्षसी महत्वाकाक्षा, ब्रह्मचर्यके घातक भोगादि दुष्कृत्य नहीं होते किंतु आत्मामें भोगविलासकी इच्छा, आवश्यकताकी आवश्यकतायें कम होती जाती हैं और आत्माका विकाश होता जाता जाता है। इसलिये शील व्रतोंकी दूसरे शब्दोंमें कहें तो चारित्र व्रतका पालन करना चाहिये ताकि आत्माका कष्ट सहन, समाजसेवा आदि कार्योंमें उत्साह बढता जावे।

(४) **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**। सत्य ज्ञानका ध्यान रखना और उसीमें अपने चित्तको लगाना अभीक्ष्ण ज्ञानोपभोग कहलाता है। इससे आत्माके ज्ञानगुण का विकाश होती है। सदा उठते बैठते चलते फिरते ज्ञानकी ही बातें तत्वोंकी चर्चा आदि द्वारा ज्ञानका निरतर सहवास करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

(५) **संवेग**—आत्माको दु.खोंके कारणोंसे बचाये रखनेका सदा ध्यान रखना, उन कारणोंमे प्रवृत्ति नहीं करना, उनसे बचाये रहना सवेग है। इससे आत्मा खोटे कारणोंसे अपने आपको बचाये रखता है और अपनी प्रवृत्तिको शुद्धरूपमें क्रमशः चढाता है।

(६) दान—दानको तत्त्ववेत्ताओंने त्याग शब्दसे उल्लिखित किया है। अपनी शक्तिका अपनी सामर्थ्यका दूसरोंके लिये त्याग करना दान कहलाता है। त्याग करनेवाला महात्मा क्षुधासे पीड़ित तो है परंतु उसके पास भोजन है और मानो वह भोजन करनेके लिये तयार है इतनेमें यदि कोई क्षुधातुर प्राणी उसके पास आ जायगा तो वह अपनी पर्वाह न कर सामनेका भोजन उस क्षुधातुरको देगा। इसी तरह त्यागी मनुष्य अपनी प्रत्येक शक्तिको दूसरोंके उपयोगके लिये समझे गा। उसकी शक्तिसे संपत्तिकी तिजोरी दूसरों के लिये सदा खुली रहेगी। दूसरोंको भूँखे देखकर वह भोजन नहीं करेगा। दूसरोंको रोगी छोड़कर वह आरामसे नहीं सोयगा। दूसरोंको अज्ञानी देखते हुए भी वह अपना द्रव्य भोग-विलासोंमें व्यय न करेगा। अपने सामने वह किसी भी प्राणीको कष्ट होता हुआ नहीं देख सकेगा। साराश दानी पुरुषोंकी शक्तियॉ सदा दूसरोंके लिये ही रहती है। वह जो कुछ करते है भावसे करते हैं दिखानेको या प्रतिष्ठा प्राप्तिके लिये नहीं। प्रतिष्ठा प्राप्तिके लिये दान करना दान नहीं कहलाता वह तो मान है, दुरिच्छा है—पाप है, मानवीय गुणसे विरुद्ध है। ऐसा दान करना सच्चा दान नहीं है। यहॉ पर षोड़श कारणोंमें जो दान कहा गया है वह वही सच्चा दान है—त्याग है जिसे ऊपर कह चुके है। इसी प्रकारका त्याग करनेका अभ्यास करना त्याग व्रत है। इस त्यागव्रतसे विश्वबंधुत्व गुणका विकाश होता है जिसकी कि अवश्यकता तीर्थंकर पदमें होती है और जिससे कि यह पद विश्वहितैषी माना गया है।

(७) कायक्लेशतप—इस व्रतका लक्षण इस प्रकार किया गया है कि " **अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशतपः** " अर्थात् शरीरकी शक्तिको न छिपाकर सत्य मार्गमे विरोध न डालने वाला काय क्लेश तप कहलाता है। उपवास, एकाशन, रस त्याग आदि काय क्लेश तप है। आज कलके विलास प्रिय समयमें इन कार्योंकी प्रायः यह कह कर हसी उड़ाई जाती है कि इनसे कुछ भी लाभ नहीं है किंतु शरीरको कष्ट होता है। ऐसा कहना एक अपेक्षासे ठीक है और दूसरी अपेक्षासे अयोग्य भी है। ठीक तो यों है कि आजकलकी काय क्लेश तप करनेकी जो पद्धति है वह पद्धति उपयोगी नही है, क्योंकि उसमें जिस लिये उपवासादि किये जाते है उसपर कुछ ध्यान न देकर केवल लघन को ही कल्याणका कारण समझा जाता है। ताश खेलना, चोपड़ खेलना, गप्पें मारना वर्तमानमे उपवासादिमें मुख्य कार्य है। छह छह वर्षोंके लड़कोंसे उपवास कराया जाता है। गर्भवती स्त्रियाँ (शास्त्रोंमें आज्ञा न होने पर भी) पुण्यकी महत्वाकाक्षासे उपवास करती है और यहॉ तक देखा गया है कि ऐसी अवस्थामें उपवास करनेसे गर्भपात हो जाता है अथवा गर्भिणीकी मृत्यु भी कभी कभी हो जाती है। शक्ति न होते हुए भी तीन तीन चार चार दिनों तक उपवास किया जाता है और फिर उपवासके दिन हाय हाय करते व्यतीत होते है। इस तरह देखा जाय तो उपवास करना बेशक हानिकर है। परतु कायक्लेशका जो ऊपर लक्षण बाधा गया है कि शक्तिको न छुपाकर सत्यमार्गसे विरोधरहित अर्थात तत्त्व चिंतवन, आत्म ध्यान, शुभभावोंसे कायक्लेश करना अयोग्य नहीं

किंतु उचित है । इससे शरीरका स्वास्थ्य ठीक होनेके साथ ज्ञानकी वृद्धि होती है। इन्द्रियोंके वश करनेका अभ्यास बढ़ता है। मन वश होता है। अतएव इस प्रकारके कायक्लेशका वर्तमानमें प्रचार करना चाहिये।

८ **साधुसमाधि**—ज्ञान, शील, व्रत आदिके धारक साधुओंके तपमें कोई विघ्न आनेपर उसे दूर करना साधुसमाधि कहलाता है। इस गुणसे सत्यज्ञान, और शुद्धचारित्रकी रक्षा और वृद्धि होती है व परोपकारताके गुणका विकाश होता है।

९ **वैयावृत्य**—गुणवानोके दुःख दूर करना गुणवानोंकी सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। इसके करनेसे ससारमे ज्ञानका विकाश-क्रम जारी रहता है और आत्मामें ज्ञानकी भक्ति बढ़नेसे ज्ञानका भी विकाश होता है। क्योंकि किसी गुणका विकाश जभी होता है जब कि उसकी चारोंओरसे विश्वास हो।

(१०) **अर्हद्भक्ति**—कर्मोंके नाश करनेवाली, सर्वज्ञ वीत-राग और सत्यज्ञानकी प्रकाशक आत्माओंकी भक्ति करना।

(११) **आचार्यभक्ति**—साधुओंपर शासन करनेवाले, दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, वीर्य इन पाच प्रकारके आचरणोंको करनेवाले आचार्योंकी भक्ति करना।

(१२) **उपाध्यायभक्ति**—साधु होकर निरतर पठनपाठन करनेवाले उपाध्यायोंकी भक्ति करना।

(१३) **श्रुतभक्ति**—सर्वज्ञद्वारा कहे हुए ज्ञानकी भक्ति करना।

इन चारों प्रकारकी भक्तिसे भी ज्ञानका विकाश होता है, क्योंकि जिनकी भक्ति कही गई है वे स्वय ज्ञानवान् और महात्मा होते हैं।

और महात्माओंकी भक्ति करना अपने आपको महात्मा बनाना है। क्योंकि भक्ति उसकी की जाती है जो आदर्श होता है और आदर्श की भक्ति करनेसे आत्मा स्वय आदर्श बननेकी महत्त्वाकाक्षा करता है। साथमें आदर्शका अनुयायि होता है और अंतमें जाकर स्वयं महात्मा–आदर्श बन जाता है। ऊपर जिन चार भक्तियोंका वर्णन किया गया है उनके पात्र स्वय आदर्श हैं। कर्मोंका नाश करनेवाले ज्ञान-दर्शन आदिका आचर्ण करनेवाले, पठन पाठन करनेवाले और स्वयं ज्ञान देवताके समान क्या और कोई आदर्श अथवा महात्मा हो सकता है? अतएव इनकी भक्ति करनेका अभ्यास डालना जिससे कि आत्मा स्वयं सर्वज्ञ वीतराग आदि बने और एक दिन अन्य संसारियोंकी भक्तिका पात्र हो।

(१४) **छह आवश्यकोंका करना**–आवश्यक अर्थात् जरूरी दूसरे शब्दोंमें कर्तव्य कह सकते हैं अर्थात् निम्न लिखित छह बातें करने योग्य है–अवश्य करने योग्य है:—

(१) सामायिक अर्थात् किसी मत्रकी जाप्य देना। प्रायः नमस्कार मंत्रकी जाप्य देना चाहिए, क्योंकि इसमें कर्मोंका नाश करनेवाले सिद्ध, घातिया कर्मोंके नाशके अर्हत, कर्मोंके क्षय करनेके मार्गमें जानेवाले आचार्य, उपाध्याय साधुका स्मरण किया गया है। इन महात्माओंके स्मरणसे सिद्ध और अरहत बननेकी महत्त्वाकाक्षा उत्पन्न होती है और आत्मा समझने लगती है कि जिनका मै स्मर्ण करती हूँ उनके गुण सब मुझमें है और मै भी एक दिन अर्हत और सिद्ध हो सकता हूँ। तथा इनके स्मरणसे बडी भारी शाति प्राप्त होती है। आत्मविश्वास उत्पन्न होता है।

(२) स्तवन--परम पदको-पूर्ण विकाशको प्राप्त हुई आत्माओंका ध्यान करना।

(३) वंदना--ध्यानके बाद ऐसी आत्माओंको नमन करना।

(४) प्रत्याख्यान--सर्व जीवोंसे मैत्री भाव-विश्वबंधुत्वकी भावना करना।

(५) प्रतिक्रमण-अपने कृत पापोंका वर्णन कर पश्चात्ताप करना-पश्चात्तापकी अग्निमें दुष्कृत्योंको जलाकर आत्माका विकाश करना।

(६) कायोत्सर्ग--शरीरकी क्रियाओंको कुछ समयके लिये मर्यादित करना, जिससे कि मन, बचन और काय वशमें हों विभावकी ओर न जासकें।

इस प्रकार इन छहों आवश्यकोंका करना आवश्यकपरिहाणि कहा जाता है। प्रायः देखा जाता है कि सामायिक करते समय हमारे कई भाई प्रत्याख्यान, बंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण आदिके जो पाठ पूर्व विद्वानोंके बने हुए है उन्हें ही बोललेनेसे उन कार्योंकी पूर्ति हुई समझ लेते है, पर यह भ्रम है। असलमें किसी खास पाठके बोल लेनेसे ही प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान आदि नहीं होते। किंतु भावपूर्वक अपनी स्थितिको देखते हुए जो अपने शब्दोंसे प्रतिक्रमण आदि किये जाते है वे सच्चे आवश्यक है। केवल कोई पाठ पढ़ लेनेहीसे विश्वबंधुत्वकी भावना और पापोंका प्रायश्चित्त हो गया ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है, और कुछ कार्यकारी नहीं है। अतएव इन क्रियाओंको अपने शब्दोंसे अपने मनसे एवं अपने शरीरसे करना चाहिए ताकि आत्मामें समभाव उत्पन्न हो।

(१५) प्रभावना और (१६) वात्सल्य—इन दोके संबधमें दर्शनविशुद्धिके वर्णनमें हम कह चुके हैं।

इस प्रकार ये सोलह भावनाये है जो आत्माका एक दिन ऐसा विकाश करती है कि वह आत्मा जगतका उद्धारक महा प्रभु होता है। और इसी लिये ऐसी आत्माओंका पद तीर्थंकर–धर्मका प्रचारक इस महापदके नामसे उल्लिखित किया गया है। इन सोलहों कारणोंकी विशालता और व्यापकता हमारे पाठकोंने समझी होगी। यदि पाठकोंने आन्तरिक दृष्टिसे देखा तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनकी आत्मामें स्वयं इसका विश्वास उत्पन्न हो जायगा कि सोलहो कारण आत्माको विशाल बना सकते है। और ये सोलहों ही कारण ऐसे है जिनसे आत्माका बड़ा भारी विकाश होता है।

पर्यूषण पर्वमें जो महान् व्रत किये जाते है उनमें षोडशकारण व्रतका वर्णन हो चुका। अब दशलाक्षणिक और रत्नत्रय व्रत और है। ये तीनों व्रतमहाव्रत कहे जाते है। शेष छोटे मोटे व्रत तो बहुतसे है। उन सबका भावपूर्वक वर्णन यहाँपर विस्तारभयसे हम नहीं कर सकते। फिर किसी समयपर देखा जायगा। दशलाक्षणिक व्रत उसे कहते है जिसमे आत्माके दश लक्षणोका दश प्रकारके स्वभावोंका मनन, अध्ययन एवं अभ्यास किया जाय। आत्मा अनादिकालसे विभावोंमें रंजित हो रहा है और विभावोंको ही स्वभाव समझता है विभाव करना उसने अपना स्वभाव समझ रखा है इसी लिये वह रात्रिदिन क्रोधादि कषायोंको करता रहता है। दशलाक्षणिक व्रत इन कषायरूप विभावोंसे आत्माको बचा उसके स्वभावमे उसे स्थिर करता है। दशलाक्षणिक व्रत इस

भाति है:–१ क्षमा २ मार्दव ३ आर्जव ४ शौच ५ सत्य ६ संयम ७ तप ८ त्याग ९ आकिंचन्य १० ब्रह्मचर्य इसमें पहिलेके चार अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच क्रोधादि चार कषायोंके–क्रोध, मान, माया, लोभके प्रतिपक्षी है । क्षमाके व्रतसे आत्मा क्रोध करना छोडता है और अपनेको शांतिके वातावरणमें रखनेका अभ्यास डालता है । मार्दव व्रतसे आत्मा अपने स्वरूपको अपनी शक्तिको, अपनी ज्ञानादि संपत्तिको जानकर संसारकी विनाशीक–अस्थिर संपत्ति पर अभिमान करना छोड़ नम्र बनता है। आर्जव व्रतसे मन वचन, काय की वक्रता को हटाता है और सरल भावी बनता है, क्योंकि वक्रतामे सत्यज्ञान नहीं हो सकता। उसके लिये सरल हृदयकी आवश्यकता होती है । शौच व्रतसे आत्मा लोभकषाय की अशुचिताको हटा कर अपने परिणामोंको, अपने स्वभावको शुद्ध करता है । इस प्रकार दशलाक्षणिक व्रतमेंसे पहिलेके चारों व्रतोंसे क्रोधादिकषायोंका अभ्यास घटता और आत्म स्मरणका अभ्यास होता है । सत्य, त्याग और ब्रह्मचर्यका वर्णन ऊपर कर आये है । शेषके तप, संयम और आकिंचनका स्वरूप इस भाति है।

तप—कर्मोंके क्षय करनेके लिये अनशन आदि करना तप कहलाता है । तप बारह प्रकारका है। छह प्रकारका बाह्य अर्थात् शारीरिक है और छह प्रकारका अन्तरंग अर्थात् आत्मिक है । अन्तरग तप सहित जो बाह्य का तप किया जाता है वही तप फलदायी और तप कहलाने योग्य है । शेष तो लघन है । बाह्य तप शरीरको निरोगी और स्वस्थ बनाते है । उसमें

से विष निकालकर उसमें ताजगी उत्पन्न करते है । और आभ्यं-तर तप आत्माके ज्ञानादि गुणका विकाश करते हैं ।

संयम—अर्थात् नियमादि लेना । इन्द्रियोंके वशमें कर सकने योग्य कारणोंको मिलाना और उन कारणोंसे जिनसे कि आत्मा दुराचारमें प्रवृत्ति करता है आत्माको बचाना संयम कहलाता है ।

आकिंचन—शरीरादिकमें ममत्व भावके न करनेको आकिंचन कहते हैं । इस प्रकार दश आत्माके स्वभावोंमें आत्माको रंजित कर इनसे विपरीत विभावोंसे आत्माको दूर रहनेका अभ्यास दशलाक्षणिक व्रत है। इसी तरह **रत्नत्रय** व्रत भी आत्माके सच्चे स्वभावमे लीन रहनेका अभ्यास कराता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र अर्थात सत्य और शुद्ध दर्शन, विश्वास सत्य और शुद्धज्ञान व शुद्ध चारित्रकी भावना करना इनके समीपवर्ती होनेका अभ्यास करना रत्नयत्र व्रत हैं । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रको रत्नत्रय कहा है अर्थात् ये तीनों रत्न है, रत्नके समान हैं । आत्माके असली स्वभाव ये ही तीनों है । इनका बहुत कुछ वर्णन दर्शनविशुद्धि और बारह व्रतमें हा चुका है । इन तीनों महाव्रतके सिवाय अन्य जो व्रत है उनका भी केवल उद्देश्य आत्माको स्वभावमें रहनेका अभ्यास डालनेका है । परतु दुःख है कि हमारी—

वर्तमान क्रियाएँ

इस उद्देश्यसे विपरीत हो रही हैं। अब हम करते तो अनशनादि तप है—षोड़शकारणादि व्रत हैं, परंतु अपने चिरकालके अभ्यासानुसार इन तप और व्रतके दिनोंमें भी कषायोंको नहीं छोडते—क्रोध मान माया लोभ को नहीं त्यागते, किंतु और भी अधिकतासे कषा-

योंको काम में लाते हैं। मंदिरोंमे प्रायः इन दिनों सब भाई एकत्रित होते है वहाँपर तत्वचर्चा सामाजिक अवनतिके कारणोंपर विचार न कर आपसमें लडते हैं झगडते है, जूते पेजार करते है, यहाँ तक कि एक दूसरे की पगड़ी सडकोंमें फेंक कर संतोषित होते हैं। हाय, कितने दुःख की बात है कि जो पर्यूषण पर्व हमें क्षमादि उत्तम गुणोंका अभ्यास करानेके लिये है जिसमें हम दर्शनविशुद्धिकी भावनासे आत्माका उच्चातिउच्च विकाश कर सकते हैं उसी पर्यूषण पर्वमें हम उक्त घृणित कृत्योंके करने पर भी नहीं शर्माते। सबसे अधिक दुःख तो तब होता है कि जब शास्त्र सभामें बैठकर क्षमादि धर्मका वर्णन सुनते समय गर्दनको हिला हिलाकर अपनी भावुकता प्रगट करनेवाले पापात्मा थोडेसे अपमानसे—कटुकवचनसे लाल ताते होकर साक्षात् क्रोध मूर्ति बन जाते है और उन कृत्योंको भी करते नहीं लजाते जो कमसे कम मंदिरोंमें तो नहीं करना चाहिये। पर्यूषण पर्वमें रात्रि दिन आत्मामें समताभाव, क्षमाभाव धारण कर बारह व्रतोंका पालन करना चाहिये। पर हमारे जैनीभाई पर्यूषणके पूरे मासकी बात तो न्यारी है एक दिन भी झूंठ बोलना, चोरी करना, मायाचारी करना क्रोध करना अभिमान करना, व्यभिचार करना आदि दुष्कृत्योंको नहीं छोडते, किन्तु जिनसे टकाधर्ममें बाधा उपस्थित न हो और धर्मात्मा बनही जावें उनको अवश्य छोड देते है। यद्यपि वर्तमानकी त्यागप्रवृत्ति बुरी नहीं है, पर केवल उससे पर्युषण पर्वका उद्देश सिद्ध नहीं होता। पर्युषण पर्वका उद्देश सिद्ध करनेके लिये हमारा—

कर्तव्य

है कि ऊपर जिन भावनाओंका दिग्दर्शन किया गया है उन भावनाओंको भाकर अपनी आत्माका विकाश करे।

समयानुकूल दान करें । ममताभावसे पर्युषण पर्वमें अपना जीवन व्यतिक्रम करें। विभावोंको त्याग स्वभावकी ओर झुकें तब कहीं पर्युषण पर्व सच्चा पर्व होसकता है और उसका उपयोग हो सकता है। हम अर्हंतदेवसे प्रार्थी है कि भगवान् हमारे भाई सच्चे जैन-क्रोधादिकषायोंको जीतनेवाले बनें और इस तरह के बननेका अभ्यास वे पर्युषण पर्व में करके अपना जीवन पवित्र बनावें।

पर्यूषण पर्वमें जैनी मात्रके कर्तव्य ।

(१) सच्चे जैनी अर्थात् जीतनेवाले (क्रोधादि विभावोंको) योद्धा बनना।

(२) क्षमारूप—शात रहना।

(३) अभिमानको छोडना।

(४) सत्यविश्वास, सत्यज्ञान और सत्यचारित्र रूप स्वभावका विकाश करना, इनके साधनोंका उपयोग करना।

(५) पठनपाठन करना।

(६) शास्त्रदान और विद्यादानके लिये अपनी सपत्तिका त्याग करना (दान देना)

(७) परोपकार करना।

(८) हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, तृष्णादिसे बचते रहना।

(९) सामाजिक और धार्मिक उन्नतिके कार्योंमें योग देना।

(१०) अज्ञान अधकारको हटाकर सत्यमार्गकी प्रभावना करना इत्यादि।

नमः श्रीनेमिजिनेन्द्राय

श्रीरत्नसिंहमुनिविरचित

प्राणप्रिय-काव्य।

(भक्तामर स्तोत्रके चौथे पदोंकी समस्यापूर्ति)

जिसे

देवरी (सागर) निवासी नाथूराम प्रेमीने

सरल हिन्दी अर्थसे विभूषित करके

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय द्वारा

बम्बईके

तेलगु प्रेसमें मुद्रित कराकर प्रकाशित किया।

श्रीवीर नि० सवत् २४३८ दिसम्बर सन् १९११ ई०

प्रथमावृत्ति] [मूल्य दो आना।

Published by
Shri Nathuram Premi
Proprietor
Shri Jain Granth Ratnakar Karyalaya
Hirabag, Near C P Tank, Bombay

Printed by
Erranna Shivaya Banpel
Printer Telagu Press
9th Kamathipura Bombay

निवेदन।

विगत वर्ष जब यह सुन्दर काव्य जैनहितैषीद्वारा प्रकाशित हुआ, तब काव्यप्रेमी महाशयोने इसे बहुत पसन्द किया और हमसे प्रेरणा की कि, इसे जुदा पुस्तकाकारमे प्रकाशित करना चाहिये। तदनुसार आज यह पृथक् पुस्तकस्वरूपमें प्रकाशित होता है।

इस काव्यका मूलपाठ हमको बसवा जिला जयपुर निवासी श्रीयुत प० सुन्दरलालजीसे प्राप्त हुआ था, इसलिये हम उनके चिरकृतज्ञ रहेंगे।

इसके अनुवादमे पहिली बार जो अशुद्धिया रह गई थीं, वे अबकी बार ठीक कर दी गई है। इस कार्यमें हमें जटौआ (आगरा) निवासी प० रामप्रसादजीसे बहुत सहायता मिली है। उनके हम बहुत आभारी है।

देवरी (सागर)
कार्तिकशुक्ला. १४
श्रीवीरसवत् २४३८

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी

काव्यवर्णित कथाका पूर्वसम्बन्ध।

यदुवशी राजा समुद्रविजयके पुत्र **नेमिनाथ** जो कि जैनियोंके बावीसवें तीर्थकर हैं, जिस समय राजा उग्रसेनकी कन्या **राजीमतीके** साथ विवाह करनेके लिये जूनागढ (काठियावाड) आये, उस समय उन्होंने देखा कि, एक स्थानमें हजारों पशु बँधे हुए बिलबिलाट कर रहे हैं। रथके सारथीसे पूछनेपर मालूम हुआ कि, वे पशु विवाहमें आये हुए बरातियो और पाहुनोंके भोजनके लिये मारे जावेंगे, इसलिये सग्रह किये गये है। बस यह मालूम होते ही नेमिनाथको अतिशय उद्वेग हुआ। 'मेरे एक जीवके सुखके लिये इतने निरपराधी जीव जिस विवाहमे मारे जावेंगे, उस विवाहकी मुझे आवश्यकता नहीं। और जहा ऐसे विवाह होते हैं, उस ससारसे भी मुझे प्रयोजन नहीं। यह कहकर उन्होंने विवाहका सारा शृगार उतारके फेंक दिया, और गिरनार (रैवतक) पर्वतपर जाकर दिगम्बरी दीक्षा ले ली। इस घटनासे जूनागढमे खलबली मच गई। सब लोगोंने रोकनेका प्रयत्न किया, पर वह निष्फल हुआ। राजीमती कन्या जो कि नेमिनाथके रूप और गुणोपर अतिशय मुग्ध थी यह खबर सुनते ही मूर्छित हो गई। निदान वह भी अपनी सखियोके सहित गिरनार पर्वतपर गई और स्वामीके निकट जाकर इसलिये कि, वे दीक्षाका परित्याग करके मेरा पाणिग्रहण कर लेवे, नानाप्रकारके विनय अनुनय करने लगी। इस छोटेसे काव्यमें राजीमतीके उन्हीं विनय अनुनयोंका वर्णन है। अन्तमें राजीमतीको निराश होना पडा। भगवान् नेमिनाथ अपनी प्रतिज्ञापर आरूढ रहे, इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने उपदेश देकर राजीमतीको भी ससारसे विरक्त कर दिया, और वह अर्जिकाकी दीक्षा लेकर तपस्या करने लगी।

नमः श्रीनेमिजिनेन्द्राय।

श्रीरत्नसिंहमुनिविरचित

प्राणप्रिय—काव्य।

(सरल हिन्दी अर्थ सहित)

प्राणप्रियं नृपसुता किल रैवताद्रि—
शृङ्गाग्रसंस्थितमवोचदिति प्रगल्भम्।
अस्मादृशामुदितनील वियोगरूपेऽ—
"वालम्बनं भव जले पततां जनानाम्"॥१॥

अर्थ— उग्रसेन राजाकी पुत्री **राजीमती** गिरनारपर्वतके शिखरपर विराजमान हुए अपने प्रतिभावान् प्राणप्यारे **श्रीनेमिनाथजीसे** इस प्रकार बोली कि, हे श्यामसुन्दर, वियोगरूप जलमें पड़ते हुए हम जैसे जनोके लिये आलम्बन हूजिये, अर्थात् मुझे सहारा देकर इस विरहसमुद्रसे निकाल लीजिये।

ऊचे सखीसमुदयः सदयस्ततस्तां
चेतः स्थिरीकुरु नितम्बिनि मा विषीद।
चञ्चच्चकोरचटुलाक्षि कृते भवत्याः
"स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्"॥२॥

"तदनन्तर उससे उसकी सखियोंने दयावान् होकर कहा, हे नितम्बिनि! चित्तको स्थिर कर, विषाद मत कर। हे चकोरके समान चचल और चमकते हुए नेत्रोंवाली सुन्दरी, तेरे लिये पहले हम ही श्रीनेमिनाथसे प्रार्थना करती है"

सम्पूर्णचन्द्रवदनां मदनावतार
रामां विहाय नवयौवनचारुवेषाम्।
वृद्धोचितं वयसि संयममुग्रमेन-
"मन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुम्" ॥३॥

"हे कामदेवके अवतार, इस नवीन यौवन और सुन्दर वेषवाली तथा पूर्णचन्द्रके समान मुखवाली स्त्रीको छोडकर जवानीकी उमरमे भला इस वृद्धावस्थाके योग्य कठिन तपको और कौन मनुष्य है, जो सहसा धारण करनेकी इच्छा करे? अर्थात् इस अवस्थामे लोग स्त्रीको ही ग्रहण करते है तपको नहीं।"

स्वामिन् प्रसीद मृगबालविलोलनेत्रा-
मङ्गीकुरुष्व दयितामविलम्बमेनाम्।
अस्मिन्नवे वयसि नाथ वियोगरूपं
"को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्" ॥४॥

"हे स्वामी, प्रसन्न हूजिये और शीघ्र ही इस छोटी हरिणीके समान चचल नेत्रोंवाली सुन्दरीको अगीकार कीजिये। हे नाथ, इस नई उमरमे वियोगरूपी समुद्रको ऐसा कौन है, जो अपनी भुजाओंसे तरनेमें समर्थ हो? अर्थात् आप और राजीमती दोनोंसे यह वियोग सहन नहीं होगा।"

एतन्मदीरितवचः कुरु नाथ नोचे-
द्रोत्स्यत्यरं क्षितिपतिः स्वयमुग्रसेनः।
कुर्वन्तमुत्तमतपोऽपि भवन्तमेष
"नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्" ॥५॥

"हे नाथ, आप हमारी यह बात मानें अर्थात् इस सुन्दरीको अंगीकार करें। नहीं तो, स्वयं महाराज उग्रसेन ही शीघ्र आकर आपको रोकेंगे। यद्यपि आप यह उत्कृष्ट तप कर रहे हैं, तो भी क्या वे अपनी बालिकाकी रक्षा करनेके लिये नहीं आवेंगे और आपको नहीं रोकेंगे? अवश्य ही रोकेंगे।"

सम्भोगकेलिकुशलं रमणं रसज्ञाः
स्त्रीणामकृत्रिमविभूषणमामनन्ति।
यन्मण्डनं वनततेर्नियत वसन्त—
"स्तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतु" ॥ ६ ॥

सखियोंके इस प्रकार कह चुकनेपर राजमतीने कहा:—हे नाथ! रस रीतिके जाननेवाले मानते हैं कि, संभोगक्रीडामें चतुर पति ही स्त्रियोंका विना बनाया—स्वाभाविक भूषण होता है अर्थात् पतिके कारण ही स्त्रीकी शोभा होती है। वन पंक्तियोंके लिये जो वसन्त-ऋतु शृंगारस्वरूप होती है, सो सुन्दर आमके मौरोंके कारणसेही होती है।

दोःकन्दलीग्रथितगाढतरोपगूढे-
नान्योन्यचुम्बितमुखेन सखे प्रकामम्।
सङ्गेन ते विलयमेति वियोगदुःखं
"सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्" ॥ ७ ॥

हे सखे, जिसमें भुजलताओंसे लपटाहुआ अतिशय गाढ़ आलिंगन और परस्पर मुखचुंबन होगा, तुम्हारे उस यथेच्छ समागमसे वियोगरूपी दु:ख इस तरह विलीन हो जायगा, जिस तरह रातका अन्धकार सूर्यकी किरणोंसे नष्ट हो जाता है।

भाग्योदयात्तदिन मे दिनमेत्वहो नौ
यस्मिन्मिथो मिलितयोः सुरतश्रमोत्थः।
वक्षःस्थले विहितहारविशेषशोभो
"मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दु"॥८॥

हे स्वामी, भाग्यके उदयसे मेरे लिये वह दिन कब आवे, जब अपन दोनोंके परस्पर मिले हुए जोडेके सुरतक्रीडाके श्रमसे निकले हुए पसीनेके बिन्दु वक्ष स्थलमे पहने हुए हारकी शोभाको बढ़ाते हुए मुक्ताफलोंकी (मोतियोंकी) प्रभाको धारण करे।

नेत्रामृते सुहृदि नाथ निरीक्षितेऽपि
हृष्यन्ति यद्भुवि विशोऽत्र किमद्भुतं तत्।
मित्रोदयेऽपि च भवन्ति विचेतनानि
"पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि"॥९॥

हे नाथ, आप नेत्रोंको अमृतके समान लगनेवाले प्यारे मित्र हैं। इसलिये यदि आपके देखनेसे इस पृथ्वीके मनुष्य हर्षित होते है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? सरोवरोंके कुम्हलाये हुए कमल मित्रके अर्थात् सूर्यके उदय होनेपर ही विकसित होते हैं—खिल उठते है।

कान्त्या कुलेन वयसा सुगुणैश्च तैस्तै
स्तुल्यामिमां तव वृणीष्व कुशाग्रबुद्धे।
प्राप्नोति शं स खलु दारजनं जिनेश
"भूत्याश्रितं य इह नात्मसम करोति" ॥१०॥

सुन्दरता, कुलीनता, जवानी, तथा और और भी गुणोंमें जो आपके समान है ऐसी इस दासीको, हे कुशाग्रबुद्धे, (हे चतुर) ब्याह लीजिये - स्वीकार कर लीजिये। क्योंकि हे जिनेश, इस ससारमें जो पुरुष अपना आश्रय करनेवाली स्त्रीको निज विभूतिसे अपने समान कर लेता है, वह निश्चयसे सुखको प्राप्त होता है।

गोरोचनारुचिरगौरतराङ्गयष्टि—
मेनां विहाय कथमाचरसि व्रतं भोः।
त्यक्त्वा सुधारसमहो वत भाग्यलभ्यं
"क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्" ॥ ११ ॥

हे प्रभो, गोरोचनके समान सुन्दर और अतिशय गौरागी इस दासीको छोडकर आप व्रत क्यों धारण करते हैं? अहो! भाग्यसे प्राप्त हुए अमृतको छोडकर ऐसा कौन है, जो समुद्रके खारे पानीके पीनेकी इच्छा करता है?

एणे दृशौ शशधरे वदनं दिनेशे
पश्यामि धामनिलयं गमनं गजेन्द्रे।
हा किं करोमि हृदयेश वतैकसंस्थं
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

हे हृदयेश्वर, मै हरिणमें आपके दोनों नेत्र, चन्द्रमामें आपका

उज्ज्वलमुख, सूर्यमें आपका तेज और गजराजमें आपकी चाल देखती हू। परन्तु हाय, मैं क्या करू, आपके समान एकत्रास्थित सारा रूप दूसरा कहीं नहीं है। अभिप्राय यह है कि, आपके एक एक अगकी उपमाएँ तो ससारमें मिलती हैं, पर आपके सारे रूपकी तुलना किसीसे भी नहीं हो सकती है; जिसे देखकर मैं कुछ धैर्य धारण करू।

यन्निर्मितं निशि निशाकरमण्डलेन
गुप्तं तमो विरहिणिव्रजघातघोरम्।
प्रद्योतनः प्रकटयत्यखिलं तदाशु
"यद्वासरे भवति पाण्डु पलाशकल्पम्" ॥१३॥

हे नाथ, यह चन्द्रमडल रातको जो विरहिणी स्त्रियोका प्राण लेनेवाला घोर अन्धकार बनाता है, और छुपाकर रखता है, सूर्य उस सबको शीघ्र ही प्रकाशित कर देता है। यही कारण है कि, चन्द्रमा अपनी कृतिके प्रगट हो जानेसे दिनमें पलाशके (टेसूके) सफेद पत्तेके सदृश कान्तिहीन हो जाता है–उसका मुह फीका पड जाता है। भाव यह कि, चन्द्रमाकी कृतिको तो सूर्य प्रगट कर देता है, पर आपकी कृतिको–आपने जो मुझे वियोग दुःख दिया है उसको, कोई प्रकाशित नहीं करता!

तत्किं वदामि रजनीसमये समेत्य
चन्द्रांशवो मम तनुं परितः स्पृशन्ति।
दूरे धवे सति विभो परदारशक्तान्
"कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्" ॥१४॥

मै क्या कहू, रातको चन्द्रमाके कर (किरणें) मेरे शरीरको सब ओरसे स्पर्श करते है—मेरा आलिंगन करते है। परन्तु हे विभो, क्या किया जाय? पतिके दूर रहनेपर पराई स्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंको स्वच्छन्दतापूर्वक सचार करनेसे कौन रोक सकता है?

पूर्वं मया सह विवाहकृते समागा
मुक्तिस्त्रिया त्वमधुना च समुद्यतोऽसि ।
चेच्चञ्चलं तव मनोऽपि बभूव हा तत्
"किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्" ॥१५॥

हे नाथ, पहले तो आप मेरे साथ विवाह करनेके लिये आये थे, और अब आप मुक्तिस्त्रीके विवाह करनेके लिये उद्यत है! यदि आपका मन भी इस तरह चचल हो गया, तो क्या सुमेरुपर्वतका शिखर भी कभी चला होगा?

पर्यङ्कसुन्दरतरे ज्वलितप्रदीपे
कीर्णप्रसूननिवहे शयनीयगेहे ।
एका शये कथमहं यदि वृष्णिवंश—
"दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः" ॥ १६ ॥

जिस शयनमन्दिरमे अतिशय सुन्दर पलग बिछ रहा है, सुगन्धित फूल बिखरे हुए है और दीपक जल रहे है, उसमें जगतके प्रकाश करनेवाले यदुवशके दीपक यदि एक आप नहीं है, तो प्यारे, बतलाओ, मै अकेली कैसे सोऊ?

हृत्पङ्कजस्य न कथं विदधासि बोधं
नो वा वियोगतमसः कुरुषे विनाशम्।
प्रोद्यत्करप्रसरतः परितो यतस्त्वं
"सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके" ॥ १७ ॥

हे मुनीन्द्र, आप लोकमें सूर्यसे भी अधिक महिमाके धारण करनेवाले प्रसिद्ध है, फिर आप अपने उद्यमशील करोंको (पक्षमें, किरणोंको) सब ओरसे प्रसार करके अर्थात् भुजाओंसे वेष्टित करके मेरे हृदय कमलको प्रफुल्लित क्यों नहीं करते? तथा वियोग-रूपी अंधकारका विनाश क्यो नहीं करते? (ऐसा किये बिना आप सूर्य सरीखे कैसे हो सकते है? जैसे वह अपने करोंसे कम-लोंका विकाश और अन्धकारका विनाश करता है, उसी प्रकार आपको अपने भुजालिङ्गनसे मेरे हृदयको प्रफुल्लित और वियोगको नष्ट करना चाहिये ।)

तद्वीक्षितं प्रकुरुते परितापमङ्गे
ह्येतत्तु सम्मदममन्दतमं तनोति।
चित्रं विभो तव मुखं सुतरां विभाति
"विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम्" ॥ १८ ॥

आश्चर्य है कि, चन्द्रमाके देखनेसे तो शरीरमें बडा भारी ताप उठता है--वियोगाग्नि सुलग उठती है, परन्तु आपका यह मुख-चन्द्र देखनेसे अतिशय आनन्द होता है-हृदय शीतल हो जाता है। इसलिये हे विभो, आपका मुख जगतको प्रकाशित करने-वाला एक अपूर्व चन्द्रमा है।

इत्थं स्तुतो यदि विभो विरहं भिनत्सि
भिन्नैस्तदा रमण संवननैरलं मे।
दावानलः शममुपैति घटाम्बुभिश्चेत्
"कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः" ॥ १९ ॥

हे विभो, इस प्रकार स्तुति करनेसे यदि आप मेरी विरहज्वालाको शान्त कर देंगे, तो फिर हे रमण, मुझे वशीकरणकी अन्य क्रियाओंसे क्या प्रयोजन है? दावानल यदि घडेके जलसे ही शान्त हो जावे, तो फिर पानीके भारसे झुके हुए बादलोंसे क्या काम है?

याभिः कदाचिदपि देव निरीक्षितस्त्व-
मन्येन ताः कथमहो रतिमाप्नुवन्ति।
रत्ने यथा सहृदयाः खलु सादराः स्यु—
"र्नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि" ॥ २० ॥

हे देव, जिन स्त्रियोने आपको कभी एक बार भी देख लिया, वे भला दूसरेके साथ कैसे प्रेम करें? क्योंकि जो सहृदय पुरुष हैं, वे जैसी रत्नमे आदरबुद्धि रखते है, वैसी कांचके टुकडेमें यद्यपि वह किरणोंसे आकुल अर्थात् प्रकाशमान् होता है – तो भी नहीं रखते है। तात्पर्य यह कि, आप जैसे पुरुषरत्नका दर्शन करके अब मै अन्य कांचखडके समान पुरुषोंमें प्रेम नहीं कर सकती।

प्राणेश पूर्वभवसन्ततिसन्निबद्ध—
स्नेहस्त्वमेव रमणो मम कामरूपः।
विद्याधरोऽपि मदनोऽपि न वासवोऽपि
"कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि" ॥ २१ ॥

हे प्राणनाथ, आप ही मेरे पूर्वके अनेक जन्मोंसे बँधे हुए स्नेहके स्वामी कामदेवस्वरूप पति हैं। सो इस भवमें तो क्या अन्य भवोंमें भी कोई मेरे मनको हरण नहीं कर सकता; चाहे वह विद्याधर हो, चाहे कामदेव हो, और चाहे साक्षात् इन्द्र ही हो।

निष्कारणं मयि यथा वहते विरोध—
मेषा तथा न हि विभो निखिला दिशस्ताः।
मत्पीडनार्थमचिरात्सकलेन्दुबिम्बं
"प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्"॥ २२॥

हे विभो, जिस प्रकार विना कारण यह पूर्व दिशा मेरे साथ विरोध करती है, उस प्रकार अन्य सब दिशायें नहीं करतीं। मुझे दुःख देनेके लिये तो यह पूर्व दिशा ही स्फुरायमान किरणोंको धारण करनेवाले पूर्ण चन्द्रको बार बार उत्पन्न करती है।

गत्वा निजं पुरमवाप्य नराधिपत्वं
साकं मया सफलयाशु वयो नवीनम्।
तत्रोचितं कुरु वृषं यदि मुक्तिकामो
"नान्य शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः"॥ २३॥

अब प्यारे, अपने नगरको चलकर और राजपदको प्राप्त करके मेरे साथ इस नई उमरको सफल कीजिये। और यदि आपकी मोक्ष प्रात करनेकी ही इच्छा हो, तो वहींपर उचित धर्मकी पालना कीजिये। क्योंकि हे मुनीन्द्र, इसके सिवाय मोक्षका कोई दूसरा कल्याणकारी मार्ग नही है। अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहते हुए धर्मका पालन करना ही मोक्षका सुखसाध्य मार्ग है।

संसारसारमृषयः कथयन्ति रामां
प्राप्तां कथं त्यजसि तां स्वकुलानुरूपाम्।
एवं विमुञ्च जडतातिशयं यतस्त्वां
"ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः" ॥ २४ ॥

ऋषि मुनि लोग स्त्रीको संसारका सार बतलाते है। फिर आप उसे अपने कुलके योग्य प्राप्त करके भी क्यो छोडते है? अब आप इस अतिशय मूर्खपनेको छोड दीजिये। क्योंकि आपको सन्त पुरुष निर्मल ज्ञानस्वरूप कहते है।

प्राज्ञोऽसि नीतिनिपुणोऽसि गुणाकरोऽसि
दातासि भो सकलसत्त्वशिवंकरोऽसि।
मद्वाञ्छितं कुरु विभो बहु किं स्तवीमि
"व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि"॥ २५॥

हे विभो, आप पंडित है, नीतिमे चतुर है, गुणोकी खानि है, दाता हैं, सर्व जीवोंका कल्याण करनेवाले है, और अधिक स्तुति क्या करू, आप ही प्रगटरूप पुरुषोत्तम है। इसलिये मेरे मनोरथको पूर्ण कीजिये—मुझे स्वीकार कीजिये।

पीताब्धिरेष जलधीन्निखिलान्निपीय
सौहित्यमाप वद सम्प्रति किं करोमि।
मग्ना वियोगजलधौ शरणं श्रिता ते
"तुभ्यं नमो जिनभवोदधिशोषणाय"॥ २६॥

यह अगस्त्य तो सारे समुद्रोंको पीकर तृप्त हो गया है—अन्य

किसी समुद्रको पीनेकी अब इसकी इच्छा नहीं है । इस लिये हे नाथ, बतलाइये अब मैं क्या करू? इस वियोगसमुद्रमें मग्न होते हुए मैने आपका आश्रय लिया है। आपको नमस्कार है। हे जिन, आप मेरे इस समुद्रको शोषण करनेके लिये हूजिये अर्थात् इस वियोगसमुद्रको सोख लीजिये। भाव यह कि, मेरे वियोगसमुद्रको अगस्त्य तो अब सोखेगा नहीं, क्योकि वह तो सब समुद्रको पीकर तृप्त हो गया है। अब केवल आप ही इसके सोखनेवाले है।

धन्या विभो युवतयः खलु तास्तमायां
यासां समेति सपदीक्षणयोः प्रमीला ।
धिग्मां जहात्यहह सा विगता यतस्त्वं
"स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि" ॥२७॥

हे विभो, रातको जिनके नेत्रोंमे शीघ्र ही तन्द्रा आ जाती है, उन स्त्रियोंको धन्य है। परन्तु हाय! मुझे धिक्कार है, जो वह तन्द्रा मुझे नहीं आती है और इसलिये मै आपको कभी स्वप्नमे भी नही देखती हू। यदि थोडी बहुत आंख लगे, तो स्वप्नमें तो आपको देख लिया करू।

दृष्टं विवाहसमये क्षणसंमदाय
प्रोद्यत्प्रभाप्रसरमीश मुखं तवाभूत् ।
नीतं तदैव विधिना तदद्दश्यतां हि
"बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति" ॥ २८ ॥

हे स्वामी, विवाहके समय देखा हुआ जो आपका प्रकाशमान्

मुख थोडी देरके लिये आनन्दका कारण हुआ था, हाय! विधाताने उसको तत्काल ही इस तरह अदृश्य कर दिया; जिस तरहसे बादलोंका समीपवर्ती सूर्यका प्रतिबिम्ब थोडी देरके लिये दिखकर छुप जाता है।

भद्रासने समुपविश्य जगज्जनाना—
मुच्चैर्विभास्यसि विभो नयमार्गमग्र्यम्।
सन्दर्शयन्यदुकुलैकललाम विम्बं
"तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः" ॥ २९ ॥

हे विभो, हे यादववंशके अद्वितीय शृंगार, आप कल्याणरूप आसनपर विराजमान होकर जगवासी जीवोंके लिये श्रेष्ठ नयमार्गको दिखलाते हुए ऐसे शोभित होंगे, जैसे ऊंचे उदयाचलके शिखरपर सूर्यका बिम्ब शोभित होता है।

मद्गात्रमञ्जनरुचा भवता व्यवाये
नूनं विभास्यति सुवर्णसवर्णवर्णम्।
सार्द्राम्बुवाहनिवहेन नतेन काम—
"मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्" ॥ ३० ॥

हे प्राणप्यारे, संभोगक्रीडाके समय मेरा सुवर्णवर्ण (सोनेके रंग सरीखा) शरीर आपके शरीरकी साँवरी प्रभासे ऐसा शोभित होगा, जिस तरहसे सुमेरुपर्वतका सुवर्णमयी ऊंचा तट पानीसे भरे हुए और झुके हुए श्याम मेघोंसे शोभित होता है।

सूनाशुगस्य विषमायुधलुब्धकेन
लक्ष्यीकृतामव मृगीमिव कान्दिशीकाम्।

यस्माद्दयारसमयं समयं जनेऽस्ति
"प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्" ॥ ३१ ॥

कामदेवरूपी व्याधाने मुझे 'किधर जाऊं किधर न जाऊं' इस तरह सोचती हुई भयभीत मृगीकी नांई अपने हिंसास्थानरूप बाणका निशाना बनाई है। इसलिये हे भगवन्, मेरी रक्षा करो। क्योंकि लोकमे आपका तीन जगतका परमेश्वरपना आपके दया-रसमयी सिद्धान्तको प्रगट करता है। अर्थात् जब सारे जगतमें आपकी दया प्रसिद्ध हो रही है, तब दया करके कामव्याधके पंजेसे मुझे बचा लीजिये।

बालां विहाय दयनीयतरां गतस्त्वं
कृत्वा दयां पशुगणे मयि निर्दयत्वम्।
निर्दूषणं मम हृद् कुरु हे दयालो
"खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी" ॥ ३२ ॥

हे नाथ! आप इस अतिशय दयाके योग्य बालाको छोडकर चले आये! आपने पशुओंपर दया करके मुझपर बडी भारी निर्दयता की। परन्तु हे दयालु, आकाशमे आपके यशका बखान करनेवाले दुन्दुभी बजते है, इसलिये इस विषयमें मेरे हृदयको शल्यरहित कर दीजिये। अर्थात् मुझे आपकी दयाके विषयमें जो शंका हो गई है कि—"यह कैसी दया, जिसमें पशुओंपर तो दया परन्तु दयायोग्य स्त्रीपर निर्दयता की जाती है" सो उसे निकाल दीजिये।

नाथ त्वदीयवचनामृतवृष्टिपूरे
स्नानाय हृन्मदनवह्निविदह्यमाना।

प्राप्ता कथं स्रवति नैव सुवृष्टि (?) माद्यं (रद्य)
"दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा" ॥३३॥

हे नाथ, कामदेवकी अग्निसे मेरा हृदय जल रहा है। इस लिये मै आपके वचनरूपी अमृतकी वर्षाके पूरमें स्नान करनेके लिये आई हू। सो अब वह आपकी दिव्यवर्षा अथवा वचनोंकी पक्ति स्वर्गसे क्यो नही बरसती है? अर्थात् आप बोलते क्यों नहीं हैं?

कामोरगेन्द्रविषदन्तकृतव्रणाय
सङ्ग त्वदीयममृतौषधमाशु देहि।
नोचेन्मदीयमरण हि त्वदीयकाष्ठा
"दीप्त्याजयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम्"॥३४॥

हे कान्त, कामरूपी सर्पराजके विषदन्तोंसे मेरे हृदयमे घाव पड गये है। इसलिये उनके अच्छे होनेके लिये आप अपने सयोगरूपी अमृतकी औषधि शीघ्र ही दीजिये। नहीं तो अवश्य ही मैं मर जाऊगी। आपका प्रभाव अपने प्रकाश करके चन्द्रमासे शोभायमान् रात्रिको भी जीतता है। अभिप्राय यह कि, आपसे तो अमृत औषधकी प्राप्ति होनी ही चाहिये। क्योंकि चन्द्रमासे अमृत झरता रहता है।

अस्मिल्ललाटपटले व्यलिखद्विधाता
यां दुर्लिपिं निजकरान्मम प्राणनाथ।
कस्त्वद्विना प्रमृजितुं भगवन्समर्थः
"भाषास्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः" ॥ ३५ ॥

प्राणनाथ, विधाताने मेरे इस लिलाटपर जो बुरे अक्षर लिख दिये है, उन्हें मिटानेके लिये आपके विना, अक्षरोंके स्वभावको उलटपलट कर देनेवाला और कौन पुरुष समर्थ हो सकता है? अर्थात् मेरी होनहारको बदल सकते है तो आप बदल सकते है, दूसरा कोई ऐसा सामर्थ्यवान् नहीं है ।

पद्माकर तमवदातजल विलोक्य
चेतो भविष्यति रतिप्रसित तवापि ।
स्वप्रेयसीरतिरतास्तलिनोपमानि
"पद्मानि तत्र विबुधाः परिकलपयन्ति" ॥ ३६ ॥

अपनी द्वारिकानगरीमें जो निर्मल जलके भरे हुए सरोवर है, उन्हें देखकर आपका चित्त भी रतिक्रीडा करनेमें आसक्त हो जायगा । क्योंकि उन सरोवरोंमे अपनी प्यारी प्रमदाओकी रतिमें लवलीन हुए देवगण शय्याके समान (सफेद) कमलोंकी रचना करते है । भाव यह है कि, जो स्थान देवोंको भी रतिका कारण है, वह आपके लिये क्यों नही होगा?

प्राक्पूर्बभो यदुविभो भवता यथालं
नैवं तु सम्प्रति महोज्ज्वलराजभिस्तैः ।
यादृग्महः स्फुरति शीतकृतः क्षपायां
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥ ३७ ॥

हे यदुवंशियोके स्वामी, वह द्वारकानगरी पहले आपके कारण जैसी सोहती थी, वैसी अब बड़े कान्तिमान् राजाओंसे भी नहीं

शोभित होती। रातको चन्द्रमाका तेज जिस प्रकार स्फुरायमान् होता है, वैसा तेज प्रकाशमान् होने पर भी तारागणोका कहासे हो सकता है? तात्पर्य यह कि, आपके विना द्वारिकानगरी सूनी शोभाहीन हो रही है।

कन्दर्पदारुणशराहतिभीतचित्ता
त्वामेव देव शरणार्थमहं प्रपन्ना।
यस्माद्विष प्रबलमप्यवदातकीर्ते
"दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्"॥३८॥

हे देव, कामदेवके बाणोंकी कठिन चोटोसे डरकर मै शरण लेनेके लिये आपके पास आई हू। क्यों कि हे निर्मल कीर्तिके धारण करनेवाले, जो लोग आपका आसरा ले लेते है, उन्हे प्रबल शत्रुको देखकर भी कुछ भय नहीं होता है।

सत्य वचः शृणु विभो रमण करोमि
त्वामेव सुन्दर भवानिव वा भवामि।
अन्यो ह्यनन्यमनसं जनमञ्जनाभ
"नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रित ते"॥३९॥

हे प्रभो, हे सुन्दर, मै सच कहती हू, सुनिये, या तो मै आपको ही अपना पति बनाऊगी, अथवा आप ही सरीखी हो जाऊगी अर्थात् दीक्षा ले लूगी। क्योंकि हे श्याम, आपके चरणरूपी पर्वतका आश्रय लेने वाले तथा उनमे अनन्यचित्त होकर लवलीन होनेवाले जीवपर अन्य कोई आक्रमण नही कर सकता है। तात्पर्य यह है कि,

दोनों ही अवस्थाओंमें मै आपके शरणमें रहूगी, जिससे कोई आक्रमण नहीं कर सके ।

रुष्टोऽपि देव रमणः प्रमदां पराभि—
भूतां समुद्रविजयात्मज पाति सम्यक् ।
यद्विप्रयोगदहनं मदुरो दहन्तं
"त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्" ॥ ४० ॥

हे समुद्रविजयात्मज, अर्थात् हे नेमिकुमार, जैसे रूठा हुआ भी पति दूसरोंसे सताई हुई अपनी स्त्रीकी अच्छी तरहसे रक्षा करता है, उसी प्रकारसे यह वियोग आग जो मेरे हृदयको जला रही है, उसे हे देव, आपका नामकीर्तनरूपी जल शमन कर देवे। अर्थात यद्यपि आप रुष्ट है, तो भी इस अग्निसे आपको मुझे बचा लेना चाहिये ।

दष्टा मनोजभुजगेन मुहुर्जपन्ती
नामापि ते कथमहो गतचेतना स्याम् ।
अन्यो भवत्सपदि सुन्दर निर्विषश्चेत्
"त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः" ॥ ४१ ॥

हे सुन्दर, कामदेवरूपी सांपकी डसी हुई मैं आपका नाम वार-वार जप रही हू, तो भी चेतनाहीन क्यों हो रही हू ? यह काम-सर्पका विष क्यों नहीं उतर जाता ? क्योंकि जिनके हृदयमें आपकी नामरूपी नागदमनी जडी रहती है, वे पुरुष तो तत्काल ही निर्विष हो जाते है।

उज्जृम्भते हृदयपङ्कजमुज्जहाति
म्लानिं वपुः फलति कामितकल्पवृक्षः।
नश्यन्त्यशेषविपदश्च वियोगदुःख
"त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति" ॥४२॥

आपका कीर्तन करनेसे अर्थात् आपके गुणोंका गान करनेसे हृदयकमल खिल उठता है, शरीर मलिनताको छोड देता है—निर्मल हो जाता है, मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फल जाता है, सारी विपदाएँ नष्ट हो जाती है, और वियोगरूपी दुःख अन्धकारके समान शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जाता है।

कल्याणकल्पकमलाविमलाशयत्व—
सौभाग्यभाग्यसुतसातियशोजुषाणि।
सद्यः फलानि सकलानि जना जिनेश
"त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते" ॥४३॥

हे जिनेश, आपके चरणकमलरूपी वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष कल्याणरूप लक्ष्मी, निर्मल अभिप्राय, सौभाग्य, भाग्यवान् पुत्र, दान और यश आदि सारे इष्ट फलोंको तत्काल ही प्राप्त करते है।

नेमिर्जगावथ वशां स्मरविकलवां तां
मोहं परित्यज विधेहि वृष वरेण्यम्।
निःश्रेयसं सुमुखि यस्य विशुद्धचित्ता-
"स्त्रास विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति" ॥४४॥

इसके अनन्तर श्रीनेमिनाथ भगवान् उस कामविकला और

अपनी वशवर्तिनी राजीमतीसे बोले, "हे सुमुखी, तू इस मोहको छोड दे और श्रेष्ठ धर्मको धारण कर; कि जिसके स्मरणसे विशुद्ध चित्तवाले जीव दुःखको छोडकर ससारसे मोक्षमें जा पहुचते हैं।"

धर्मं समाचर नितम्बिनि यत्प्रभावा-
जीवा प्रकाशधिषणाश्च सितोदरेभ्यः।
हसोजसो मघवभूतविभूतयोऽत्र
"मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः" ॥ ४५ ॥

"हे नितम्बिनि, धर्मको भले प्रकार आचरण कर; जिसके कि प्रसादसे जीवोका ज्ञान विकसित होता है, बगुला भी हस सरीखी कान्तिवाले हो जाते है और मनुष्य इन्द्र जैसी बडी भारी विभूतिके स्वामी होकर कामदेवके समान सुन्दर रूपवान् हो जाते है।"

तद्वत्परत्र सुविचित्रसुपर्वसौधा—
नुद्वास्य तानि विलसन्ति सुखानि साधु।
सिद्धेश्च सिन्धुरगते शुभशर्मभाज
"सद्यः स्वय विगतबन्धभया भवन्ति" ॥ ४६ ॥

"इसी प्रकारसे परलोकमें देवोंके आश्चर्यकारी महलोंको अधिकृत करके वहाके सुखोंको भले प्रकारसे भोगते हैं, तथा हे गजगामिनी, शीघ्र ही मोक्षको भी प्राप्त कर लेते है, जिसमें कल्याणरूप अनन्त सुखके भोक्ता होकर कर्मबधके भयसे रहित हो जाते हैं।"

बन्धूञ्चिबन्धननिभान्विषयान्विषाभा—
नर्थाननर्थनिवहानिव हा विमूढे

मत्वा विधेहि वृषमाशु यतो विशालो-
"यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते" ॥ ४७ ॥

"हे मुग्धे, बन्धुओंको बन्धनोंके समान, विषयोंको विषके समान और अर्थोंको (धनको) अनर्थोंके समान समझकर शीघ्र ही धर्मको धारण कर, जिससे कि बडे भाग्यशाली बुद्धिमान् भी तेरी स्तुति करे। अर्थात् तू बडे भारी उत्कृष्टपदको प्राप्त होवे।"

श्रुत्वेति भर्तृवचनं सहसा प्रबुद्धा
प्राप्य व्रतं च सुरसद्म समाससाद।
नेमिस्ततो ह्यनुजगाम यतोऽधुनापि।
"तं मानतुङ्गमिव सा समुपैति लक्ष्मीः" ॥ ४८ ॥

अपने पतिके ऐसे वचन सुनकर राजीमती एकाएक प्रबुद्ध हो गई—इस लिये उसने तत्काल ही जिनदीक्षा ले ली और तप करके वह स्वर्गको प्राप्त हुई। भगवान् नेमिनाथ उसके पीछे मोक्ष-धामको पधारे। और अब आगे वह लक्ष्मी भी उन मानतुग अर्थात् पदमे ऊचे श्रीनेमिनाथको प्राप्त करेगी। अभिप्राय यह कि स्वर्गसे चयकर वह भी मुक्त हो जायगी।

प्रशस्तिः ।

श्रीसिंहसङ्घसुविनेयकधर्मसिंह—
पादारविन्दमधुलिण्मुनिरत्नसिंहः ।
भक्तामरस्तुतिचतुर्थपदं गृहीत्वा
श्रीनेमिवर्णनमिदं विदधे कवित्वम् ॥ ४९ ॥

श्रीसिंहसंघके अनुयायी धर्मसिंह मुनिके चरण कमलोंमें भ्रमरके समान अनुरक्त रहनेवाले श्रीरत्नसिंह मुनिने भक्तामरस्तोत्रके चौथे चरणोंको लेकर यह श्रीनेमिचरित्र वर्णनात्मक काव्य बनाया ।

इति श्रीभक्तामरस्तुतिचतुर्थपदसमस्यानिबद्ध
प्राणप्रिय नाम काव्य समाप्तम् ।